जैन भारती

फरवरी, 2009 • वर्ष 57 • अंक 2 • वार्षिक रु. 200.00

With best compliments from :

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053

Phone : (O) 22253276, (R) 25534815

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 57 • फरवरी, 2009 • अंक 2

विमर्श

11
चतरसिंह मेहता
अहिंसा तत्त्व : एक सिंहावलोकन

16
डॉ. प्रमोदकुमार लाटा
आचार्यश्री महाप्रज्ञ का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

•

आवरण
कमल श्रीमाली

अनुभूति

23
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अनुशासन : अग्र और मूल का छेदन

24
तेरापंथ : अनुशासन और विनय की धारा

27
युवाचार्य महाश्रमण
संस्कृत भाषा का अदुष्य-वैदुष्य : संदर्भ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

30
समणी मयंकप्रज्ञा
व्यक्तित्व सृजन : कुछ सूत्र

33
साध्वी विश्रुतविभा
संतुलन के साधक आचार्यश्री महाप्रज्ञ

36
श्रीचंद रामपुरिया
समभाव राखै ते सुज्ञानी

40
साध्वी शुभ्रयशा
मर्यादा : मस्तक का ताज

43
कहानी
भीष्म साहनी
गंगो का जाया

48
कविता
अशोक 'अनुराग' की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
मर्यादा का माहात्म्य

शीलन

51
साध्वी डा. योगक्षेमप्रभा
अनेकांत के आलोक में सत्य का दर्शन : महाप्रज्ञ दृष्टि

54
साध्वी जयमाला
एकता, संगठन और अनुशासन का प्रतीक : मर्यादा महोत्सव

56
बालकथा
दादा धर्माधिकारी
तीन बालबोध कथाएं

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

केवली श्रुत-व्यतिरिक्त ही होते हैं

वेणीरामजी स्वामी ने स्वामीजी से कहा—हेमजी को अस्खलित और व्यवस्थित रूप से व्याख्यान कंठस्थ नहीं है। वे रचना करते जाते हैं और व्याख्यान देते जाते हैं।

तब स्वामीजी बोले—केवली श्रुत-व्यतिरिक्त ही होते हैं। उनके श्रुत से कोई प्रयोजन नहीं होता।

कौनसा खपरेल लाओगे?

वेणीरामजी स्वामी अभी छोटी अवस्था में ही थे। तब उन्होंने स्वामीजी से कहा—हिंगुल से पात्र नहीं रंगने चाहिए।

तब स्वामीजी बोले—मेरे तो पात्र रंगे हुए ही हैं, तुम्हें शंका हो तो तुम मत रंगना।

तब वेणीरामजी स्वामी बोले—मेरा तो खपरेल से रंगने का भाव है।

तब स्वामीजी बोले—तुम खपरेल लेने जाओगे, तब इधर पास में पीला और कच्चे रंग का खपरेल पड़ा है और आगे लाल और पक्के रंग का खपरेल पड़ा है। तुम्हारे अनुसार पहले पास में जो दिखाई दिया, वही लेना चाहिए। और यदि अच्छा खपरेल खोजा जाए तो ध्यान तो अच्छे रंग का ही हुआ। यह कह कर स्वामीजी ने उन्हें समझाया और वे समझ गए।

दुरंगे क्यों रंगते हो?

कोई कहता है—पात्रों को दो रंग में (लाल और काला) क्यों रंगते हैं?

तब स्वामीजी बोले—उनमें कुंथुओं (सूक्ष्म जीवों) का अच्छी तरह से पता लग जाता है। वे एक रंग से दूसरे रंग पर आते हैं तब सरलता से दिख जाते हैं। कोरा हिंगुल बोझिल भी होता है। काला रंग हलका होता है। उस पर से चिकनाहट उतारना आसान होता है। इत्यादि अनेक कारणों से पात्रों को कई रंगों से रंगा जाता है। सूत्र में अनेक रंगों से रंगने का निषेध नहीं है। ●

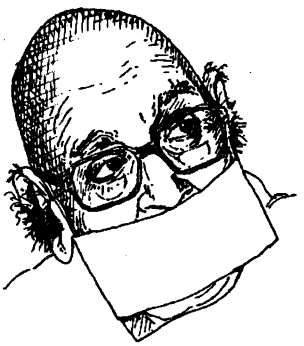

'उवसम सारं खु सामण्णं'—यह आगम का एक सूक्त है। इसका अर्थ है—साधुत्व का सार है उपशम। दूसरे शब्दों में अक्रोध। जिसने इस उपशम की बात नहीं सीखी, तो मानना चाहिए कि एक अपेक्षा से उसने साधुत्व को नहीं समझा, कुछ भी नहीं सीखा। जिस प्रकार बिना अनुपान के दवा काम नहीं करती, उसी प्रकार बिना उपशम के दीर्घकालिक साधना भी फलदायी नहीं बनती। इससे भी आगे भगवान महावीर ने तो यहां तक कहा है—'जिसमें उपशम नहीं है—उत्कृष्ट/तीव्र क्रोध है, उसमें साधुत्व ही नहीं है।' इस एक ही बात से आप समझ सकते हैं कि उपशम को, अक्रोध को कितना महत्त्व दिया गया है।

जीवन की पवित्रता का जो साधन है, वही धर्म है। साधन तीन हैं—सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचार। जीवन-शुद्धि के लिए इन तीनों का अनुशीलन जरूरी ही नहीं, अनिवार्य भी है।

आजकल कई लोग धर्म को अफीम कहते हुए उस पर लांछन लगाते हैं। मेरी दृष्टि में धर्म को अफीम कहने के तीन कारण हो सकते हैं—

• धर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होना। • धर्म का स्वरूप विकृत होना।

• समझने के उपरांत भी उसका आचरण न होना।

मैं मानता हूं, इन तीनों में से कोई-न-कोई कारण जरूर है, अन्यथा वे धर्म को अफीम नहीं मान सकते।

—आचार्यश्री तुलसी

प्रश्न हो सकता है कि आत्मा शाश्वत कैसे है? आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। उनमें से एक भी प्रदेश कभी खत्म नहीं होगा, कभी गिरेगा नहीं, कभी बिखरेगा नहीं। हमेशा असंख्य प्रदेशात्मक आत्मा उसी रूप में रहेगी। न तो एक प्रदेश कभी ज्यादा होगा और न ही एक प्रदेश कभी कम होगा। अनंतकाल पहले भी आत्मा की यही स्थिति थी, आज भी यही स्थिति है और भविष्य में भी यही स्थिति रहेगी, इसलिए आत्मा को शाश्वत कहा जा सकता है। किंतु, शरीर की स्थिति आत्मा की स्थिति से बिल्कुल भिन्न है। आज शरीर की जो स्थिति है, एक समय के बाद उसमें परिवर्तन आ जाएगा। शरीर में से कितने परमाणु बाहर जा रहे होंगे और कितने परमाणु भीतर आ रहे होंगे। एक समय ऐसा भी आएगा जब शरीर खंड-खंड हो जाएगा, खत्म हो जाएगा। इसलिए शरीर को नश्वर कहा जा सकता है, और नश्वर भी कैसा? अज्ञात नश्वर। प्रायः पता नहीं चलता कि शरीर कब खत्म होने वाला है? अकस्मात् शरीर उत्तर दे देता है, आत्मा और शरीर का पार्थक्य हो जाता है। इसलिए आदमी को सदैव जागरूक रहना चाहिए। आत्मा पवित्र रहे, प्रज्ञा निर्मल रहे, ऐसा प्रयास करना चाहिए।

आत्मा पवित्र हो, प्रज्ञा जाग्रत हो तो अनेक पापों से बचा जा सकता है, साधना के क्षेत्र में विकास किया जा सकता है। निर्मलचेता व्यक्ति इस बात पर ध्यान दे कि मेरी कामना कम हो रही है या नहीं? कामना साधना में बाधक बनती है। अनियंत्रित कामना साधना में अवरोध पैदा कर सकती है। कामना पर नियंत्रण होता है तो साधना का विकास हो सकता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

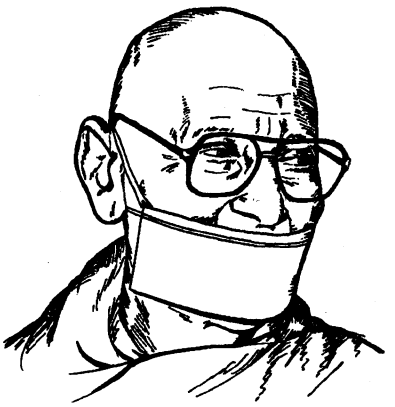

आत्म-साक्षात्कार का होना सहज नहीं है। राग-द्वेष की लहरें निरंतर उठती रहती हैं। उन लहरों में जिसका मन चंचल नहीं होता, बहता नहीं है—वही व्यक्ति आत्मा को देख सकता है। इसके बिना उसका दर्शन संभव नहीं बनता। ज्ञाता को जानने में कोरा बौद्धिक ज्ञान हमारी सहायता नहीं कर सकता। उपनिषद्कारों का यह कथन महत्त्वपूर्ण है—आत्मा को बलहीन आदमी कभी नहीं पा सकता, केवल बुद्धि से आत्मा को नहीं पाया जा सकता। आत्मा अमूर्त है। उसे जानने में इंद्रियां, मन और बुद्धि हमारा सहयोग नहीं करते। ध्यान में सबसे पहले इंद्रियों का प्रत्याहार किया जाता है। हम ध्यान में आंखें बंद करते हैं। इसका अर्थ यही है कि भीतर में देखना है तो आंख हमारा सहयोग नहीं करेगी। भीतर को देखना है तो आंखें मूंदनी होंगी।

हमारे दो जगत हैं—बाहरी जगत और भीतरी जगत। हम बाहर के जगत से सर्वथा मुक्ति नहीं पा सकते, क्योंकि हमारा जीवन शरीर से जुड़ा हुआ है। किंतु, हम बाहर के लिए ही पूरी आंख खुली न रखें—हमें भीतरी जगत को भी देखना है। भीतर को जानने के लिए इंद्रियों का प्रत्याहार जरूरी है, इंद्रिय-प्रतिसंलीनता अनिवार्य है। जो व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता, वह न ध्यान कर सकता है और न ज्ञाता को जान सकता है। वही व्यक्ति ध्यान कर सकता है, जिसने पांचों इंद्रियों का प्रत्याहार करना सीखा है। जैन दर्शन का शब्द है—प्रतिसंलीनता और पतंजलि का शब्द है—प्रत्याहार। प्रतिसंलीनता का अर्थ है—जो इंद्रिया बाहर की ओर जा रही हैं, उन्हें भीतर खींच लेना। यही प्रतिसंलीनता व्यक्ति को अपने-आप में लीन कर देती है। जब इंद्रियों की प्रतिसंलीनता होती है, राग और द्वेष की तरंगें अपने-आप शांत हो जाती हैं। उस अवस्था में एक नई चेतना का जागरण होता है। वह है अतींद्रिय चेतना, निर्मल चेतना या वीतराग चेतना। उस वीतराग चेतना की उपलब्धि के द्वारा ही ज्ञाता को जाना जा सकता है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

मर्यादा का माहात्म्य

न केवल हमारे दैनंदिन, बल्कि सामाजिक स्तर पर भी मर्यादा का स्थान सर्वमान्य है। अमर्यादित जीवन किसी भी सूरत में स्वीकार्य नहीं माना जा सकता। मर्यादाएं माला-जाप भर तो न रहें, ये आचरण में भी स्पष्ट नजर आनी चाहिएं। पर, इनका स्मरण यदि माला-जाप की मानिंद हो तो इसका असर सामान्य जन-जीवन पर भी देखने को मिल सकता है। अतः आचरण और अनवरत स्मरण—दोनों साथ-साथ और जरूरी कहे जा सकते हैं। हम पाते भी हैं कि किसी बात का निरंतर स्मरण यदि होता रहे तो एक समय में वह जीवन का हिस्सा बन ही जाता है। इस दृष्टि से यदि मर्यादाएं 'माला-जाप' भी हों, तो यह अच्छा ही है। किसी स्तर पर यह माला-जाप किन्हीं अन्यों को चौकस भी करती है और यह अवसर भी उपलब्ध कर देती है कि कोई आप की कथनी और करनी को देखता है, उसे तौलता है और अपनी चौकस निगाह से आपका मूल्यांकन भी किया जा रहा है।

वर्तमान समय में जब मर्यादाओं का सब ओर अवमूल्यन ही नजर आ रहा है और सामान्य जन-जीवन भी स्खलित होता जा रहा है, तब इसका मूल्य अधिक बढ़ जाता है कि उसका अधिक से अधिक स्मरण कराया जाए। 'तेरापंथ धर्म संगठन' विगत एक सौ चौवालीस साल से लगातार यह श्लाघनीय कार्य इसी दृष्टि से कर रहा है। इस बार माघ शुक्ला सप्तमी (दो फरवरी) को तेरापंथ अपना एक सौ पैंतालीसवां 'मर्यादा महोत्सव' बीदासर (राजस्थान) में मना रहा है। तेरापंथ संघ हर पखवाड़े अपनी मर्यादाओं का वाचन-स्मरण भी करता है। इस तरह माह में दो बार अपनी मर्यादाओं का स्मरण और इनमें हुई चूक के प्रति पश्चात्ताप-प्रायश्चित्त तेरापंथ संघ का नियमित क्रम है। माला-जाप और आचरण का ऐसा अवगुंफन विरल है। यह मर्यादा का माहात्म्य है। इसकी अनवरतता पर न केवल गौर करने की जरूरत है, बल्कि सामाजिक स्तर पर इसके महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए बारीकी के साथ इसका अध्ययन भी जरूरी है। हमारे शोध और अध्ययन संस्थानों का इस ओर ध्यान जाना जरूरी है कि आखिर ऐसी क्या खूबियां हैं कि निरंतर एक सौ पैंतालीस साल से एक संगठन अपनी मर्यादाओं से अनुगुंफित हो गतिशील है।

तेरापंथ संगठन एक सांप्रदायिक धर्म संस्थान है और सामान्यतः यह बात मान्य हो चुकी है कि सांप्रदायिक धर्म संगठन कभी भी अपने संकुचित दायरों से

मुक्त नहीं हो सकते। यह सही भी है। हम आज जो-कुछ देख रहे हैं, उसमें सांप्रदायिकता का ऐसा ही चेहरा नजर आता है, लेकिन तेरापंथ के संस्थापक आचार्यश्री भिक्षु इसके अपवाद रहे हैं। उन्होंने अपनी संघ-व्यवस्था में अनेकांत शैली का उपयोग किया, अनुशासन और स्वतंत्रता—दोनों की प्रतिष्ठा की।

संघ-व्यवस्था के लिए जिन मर्यादाओं का प्रतिपादन हुआ—उनका वाचन, स्मरण और आचरण तेरापंथ के साधु वर्ग के लिए अनिवार्य है। साथ ही ये मर्यादाएं जड़ीभूत होकर न रह जाएं, इसलिए इनकी समीक्षा और आंतरिक मूल्यांकन भी निरंतर होता है। यही वह कार्य है जिसमें हर साधु-साध्वी अपना मत प्रस्तुत कर सकते हैं। विचारों की ऐसी स्वतंत्रता और उन पर चर्चा-परिचर्चा ही वह आधार है जो इन मर्यादाओं को सुदृढ़ता देता है। इसीलिए ये जड़ीभूत होकर नहीं रह जातीं। इसीलिए ये मर्यादाएं साधु वर्ग के लिए सहज आचरण का अंग हैं।

पर, साधु वर्ग के साथ-साथ जो श्रावक वर्ग है—उसकी स्थिति पर अभी भी गौर करने की जरूरत है। तेरापंथ संगठन का प्रबल आधार साधु-साध्वी वर्ग है, तो प्रमुख आधार श्रावक-श्राविका वर्ग भी है। साधु वर्ग जहां पांच महाव्रतों से आबद्ध है, वहीं गृहस्थ जीवन बसर करने वाला श्रावक-श्राविका वर्ग भी कुछ नियमों-मर्यादाओं से आबद्ध है। 'श्रावक के बारह व्रत' इनमें प्रमुख हैं। इन बारह व्रतों के प्रति श्रावक-समाज कितना प्रतिबद्ध है—इसकी समीक्षा, मूल्यांकन आज नितांत आवश्यक है। यह देखना आज के समय की आवश्यकता है कि हमारा श्रावक-समाज इन व्रतों में किसी 'फांक' की तलाश में तो नहीं है।

ऐसा है, होता है—यह हमें स्वीकार करना चाहिए। श्रावक के जिन बारह व्रतों की बात हम कर रहे हैं—उनके एक-एक व्रत का जिक्र तो इस 'प्रसंग' में नहीं किया जा रहा, पर महात्मा गांधी के इस कथन—'तुम्हारे ज्ञान की कीमत तुम्हारे कामों से होगी'—का स्मरण हमें अवश्य कर लेना चाहिए। जिस तरह साधु-समाज हर पखवाड़े अपनी मर्यादाओं का स्मरण करता है, आत्मावलोकन करता है और अपनी अंतःपरीक्षा भी करता है—क्या श्रावक-समाज ऐसा करता है?

जब संपूर्ण मानवता विकट जटिलताओं से घिरी हुई नजर आ रही है, तब तेरापंथ के श्रावक-समाज के लिए यह जरूरी है कि वह अपनी 'आचार-संहिता' की ओर भी नजर उठाए, श्रावक के बारह व्रत अपने सम्मुख रखे और अपना आत्मावलोकन भी करे। जिस तरह 'मर्यादा महोत्सव' में संत-समाज अपना अंतःपरीक्षण करता है, उसी तरह श्रावक-समाज भी अपना अंतःपरीक्षण करे। तेरापंथ की शीर्ष और पितृ-संस्था 'जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा' है और यह उचित ही होगा कि यह संस्था इस पर विचार करे कि किस तरह, किस विधि से श्रावक-समाज के लिए बनी आचार-संहिता पर ऐसा ही आत्म-विश्लेषण भरा अनुष्ठान हो, जैसा कि 'मर्यादा महोत्सव' का होता है।

महासभा की ओर से कई ऐसे आयोजन होते हैं जो राष्ट्रीय स्तर पर समग्रता को लिए होते हैं। 'मर्यादा महोत्सव' श्रावक वर्ग से विलग नहीं है। अतः ऐसा अनुष्ठान 'मर्यादा महोत्सव' के अभिन्न अंग के रूप में भी प्रतिष्ठापित किया जा सकता है, जब महासभा के शीर्ष-जन संयुक्त होकर 'आत्म-विवेचना' करें और संपूर्ण श्रावक-समाज के लिए नैतिक आचरण की दृष्टि से आधारभूत मानक उपस्थित करें।

हमारा वर्तमान समाज तेरापंथ के नेतृत्व से यदि ऐसी अपेक्षा करता है तो वह स्वाभाविक है। तेरापंथ के नेतृत्व के पास एक ओर प्रबल वैचारिक आधारभित्ति है, तो दूसरी ओर चारित्रिक तथा आचरण की सुदृढ़ता भी है। ये ही वे दो पक्ष हैं, जिनकी एक साथ और एक समान उपलब्धता दुस्तर होती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के रूप में हमें वैचारिक आधारभित्ति तथा आचरण व चारित्रिक सुदृढ़ता सहज लब्ध है। अतः नैतिक आचरण के आधारभूत मानक स्थापित करने के लिए उत्प्रेरणा की अपेक्षा समग्र समाज के लिए स्वाभाविक है।

मर्यादा महोत्सव से एक दिन पूर्व माघ शुक्ला छठ (एक फरवरी) का दिन आचार्यश्री महाप्रज्ञ पदाभिरोहण दिवस है और माघ शुक्ला दशमी (5 फरवरी) आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का दीक्षा दिवस है। ये अवसर तेरापंथ के श्रावक-समाज के लिए कृतज्ञता-ज्ञापन के अवसर हैं। तेरापंथ का श्रावक-समाज अपनी कृतज्ञता के रूप में इस बार नैतिक आचरण का ऐसा उजास भरे कि जटिलताओं से भरी मानवता को सहज मार्ग सुलभ हो सके। यह होना ही मर्यादा का माहात्म्य है और पदाभिरोहण व दीक्षा दिवस पर हमारी कृतज्ञता तभी सफलीभूत कही जा सकती है।

—शुभू पटवा

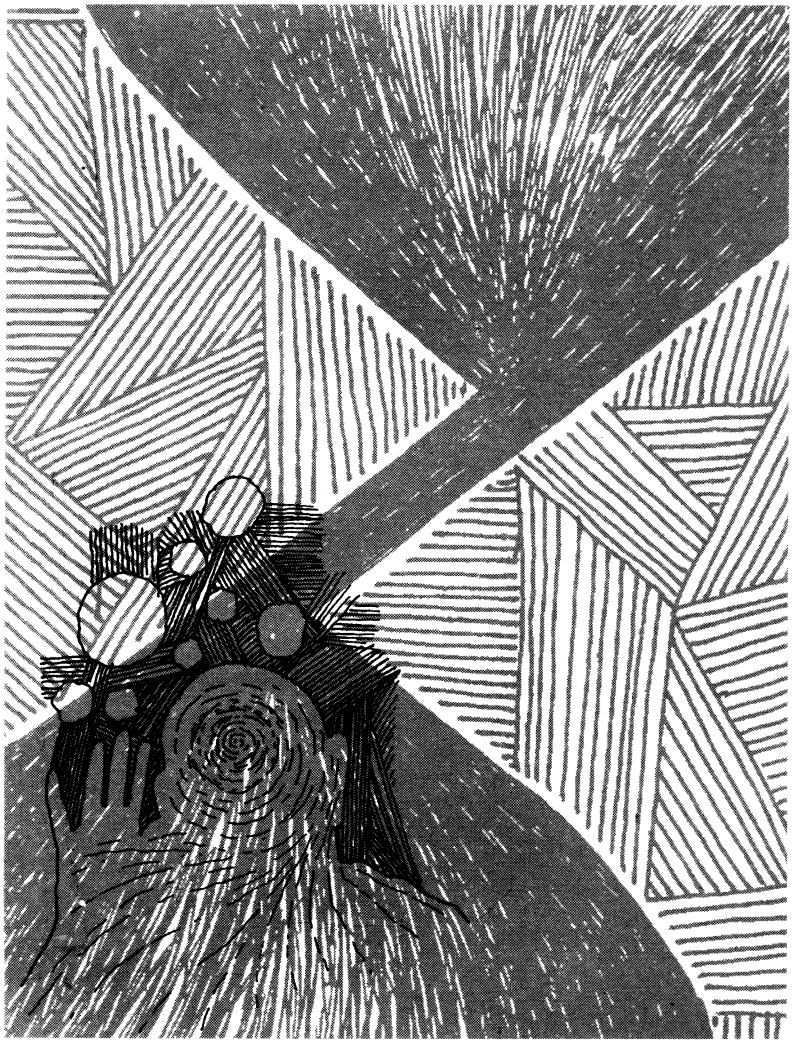

विमर्श

मनुष्य का नैतिक बोध संस्कारमात्रजन्य परवशता का बोध नहीं है, बल्कि एक स्वायत्त चेतना के द्वारा अभिज्ञात विधि का बोध है। यह बात नैतिक अनुभव की निस्वार्थ व्यापकता के अनुभव के बिना सिद्ध नहीं की जा सकती। यह बात ठीक वैसी ही है जैसे सौंदर्य का बोध निस्पृह चेतना में वरणीयता के बोध से होता है। सामाजिकता के मूल में ऐसे आध्यात्मिक मूल्यों का बोध होता है, जिन्हें चेतना के स्वरूप-निरूपण के अतिरिक्त समझा या समझाया नहीं जा सकता। जो चेतना की इन वृत्तियों पर विचार करते हैं, उन्हें चेतना एक स्वतंत्र स्वरूप से लक्षित प्रतीत होती है। उसकी इस स्वरूपगत स्वतंत्रता से ही उसके अपरोक्ष विषयों के नियम बनते हैं। यदि मानव अस्तित्व है तो उसको अपरोक्ष रूप या आकार देने वाली चेतना ही है।

—गोविंदचंद्र पांडे

अहिंसा तत्त्व : एक सिंहावलोकन

❑ चतरसिंह मेहता ❑

संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से 2 अक्टूबर का दिन जब अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस (2007) घोषित हुआ तो यह सोचा गया कि अहिंसा तत्त्व पर फिर से एक चर्चा शुरू की जाए और उसके अलग-अलग पहलुओं पर मनीषी विद्वानों के विचार जाने जाएं। जैन भारती ने इसके लिए पहल की और अक्टूबर, 2007 से अक्टूबर, 2008 तक अधिकारी विद्वानों के विचार अपने सुधि-पाठकों के लिए प्रस्तुत किए। इसकी शुरुआत अहिंसा तत्त्व पर महात्मा गांधी के तीन आलेखों से की और पहले ही अंक में हमने मनीषी-विचारक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के विचार भी प्रस्तुत किए। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अहिंसा के लिए वैचारिक स्तर से लेकर व्यवहार के स्तर तक सुचिंतित रूप से क्रियाशील हैं। इसी शृंखला में पूरे वर्ष इस पर चर्चा हुई। यह चर्चा अनवरत चलती रहे, ऐसी अपेक्षा जैन भारती की है। यही सोच कर विगत वर्ष के संपूर्ण विमर्श का पुनर्पाठ जनवरी, 2009 से दो अंकों में प्रस्तुत किया गया। महात्मा गांधी की पुण्यतिथि पर उनका विनम्र स्मरण करते हुए वर्षभर के विमर्श पर यह सिंहावलोकन किया शोध और चिंतन में सदा रुचि रखने वाले विद्वान श्री चतरसिंह मेहता ने। उनके आलेख की यह दूसरी और अंतिम किस्त है—

आज हिंसा व्यक्ति-आधारित ही नहीं रही है, सामाजिक ढांचे में भी घर कर गई है। जब तक इन कई प्रकार के ढांचों में सुधार नहीं किया जाता तब तक अहिंसक समाज की बात करना बेमानी है।

ढांचागत हिंसा

डॉ. सुदर्शन आयंगर (ढांचागत हिंसा और गांधी विचार : जून, 2008) ने इस नवीन संकल्पना पर झकझोरने वाले मूल विचार प्रस्तुत किए हैं। वे कहते हैं कि ढांचागत की विभावना नई है, पर वर्तमान समय और संदर्भ में इस विषय की अहमियत इसलिए बढ़ी है कि तंत्र की पकड़ जागतिक तौर पर मजबूत हो रही है और हिंसा की संभावनाएं बढ़ती नजर आ रही हैं। ढांचागत हिंसा की संकल्पना को समझें तो—तमाम सामाजिक ढांचे—जो आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी, धार्मिक तथा सांस्कृतिक मूल के हैं—जिनकी वजह से व्यक्ति, समूह या समाज अपनी पूरी क्षमता के साथ विकसित नहीं हो पाते और कुंठित रहते हैं, उसे ढांचागत हिंसा कहा जाना चाहिए। जब कभी मानवों की मूलभूत जरूरतें पूरी न होने की वजह से जो मानव क्षतिग्रस्त होते हैं और समाज पूरी संभावना होने के बावजूद मानवों को क्षतिग्रस्त होने से नहीं बचा पाता, तब वे सारे क्षतिग्रस्त मानव ढांचागत हिंसा के शिकार माने जाते हैं। इस तरह ढांचागत हिंसा सामाजिक अन्याय तथा दमन के सामाजिक तंत्र से जुड़ी हुई है।

वे आगे बताते हैं कि ढांचागत हिंसा की एक लाक्षणिकता यह है कि वह एक तरह से अदृश्य रहती है और मानवीय संवेदनाओं को जल्दी जाग्रत नहीं कर पाती। कत्ल, युद्ध, मारपीट, उत्पीड़न—ये सीधे दृश्यमान होते हैं और मन में भय तथा जुगुप्सा जगाते हैं। जबकि ढांचागत हिंसा धीमी, समाज के तंत्रों में छिपी और विषमताओं के कारण अस्तित्व में आती है और तंत्र उन्हें सहज बनाने का काम करता है। जो मानसिकता प्रत्यक्ष हिंसा के कारण बनती है, वैसी मानसिकता ढांचागत हिंसा के लिए नहीं बनती। पर, यदि ढांचागत हिंसा लंबी अवधि तक चले तो यह प्रत्यक्ष हिंसा और युद्ध में परिवर्तित हो जाती

है। विश्व में इसके कई उदाहरण हैं—आयरलैंड, श्रीलंका, रवांडा। भारत में भी कई उदाहरण मिल जाएंगे।

ढांचागत हिंसा के कई रूप होते हैं। शारीरिक हिंसा तो प्रत्यक्ष हिंसा है और हम सभी समझते हैं। हमला, शरीर को घायल करना, मारना, इसमें शामिल है। दंगे, मार-काट, कत्ल तथा युद्ध अलग-अलग स्वरूप हैं। राजनीतिक हिंसा, दमन, स्वतंत्रता का हरण—यानी गुलामी तथा मानव अधिकारों का हनन करना है। इस तरह की ढांचागत हिंसा समूह, राष्ट्र तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हो सकती है और होती है। आर्थिक हिंसा भी ढांचागत हिंसा का ही प्रकार है। किसी व्यक्ति, समूह या राष्ट्र को अभाव में धकेलना, कुपोषण या अल्प-पोषण का शिकार बनाना या बनने देना, आर्थिक शोषण करना तथा रोगों को फैलने देकर शारीरिक शक्ति को क्षीण करना—ये सभी लक्षण ढांचागत हिंसा के आर्थिक पहलू हैं। किसी समूह विशेष की मान्यताओं का अपमान करना, नीचा दिखाना, भेद-भाव दरशाना वगैरह सांस्कृतिक हिंसा के प्रकार हैं। राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक अन्यायी व्यवस्थाओं और पद्धतियों की वजह से भूख और गरीबी पनपती है और बढ़ती है। भूख और गरीबी ढांचागत हिंसा की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति है। भारत में प्रांतवाद, नक्सलवाद, नौकरी व कार्यविहीन बेरोजगारों की कतारों के कारनामे ढांचागत हिंसा का ही प्रभाव है।

गांधीजी ने इस विषय पर खूब सोच-विचार किया था और कहा था—कथित आधुनिक समाज विलास की ओर जा रहा है और शीघ्र ही प्रत्यक्ष हिंसा का शिकार होगा। इसीलिए उन्होंने उत्पादन में 'ट्रस्टीशिप' की संकल्पना देकर आवंटन की नई व्यवस्था की बात सामने रखी। उन्होंने मानव की लालसा के अवगुण को पहचान कर अहिंसा, अस्तेय और श्रम से उत्पादन को जोड़ा। पर, आज राज्य की भूमिका अहम समझने वाले समाज-विज्ञानी 'तंत्र' को महत्त्व देते हैं और 'बाजार' की भूमिका को अहम मानने वाले बाजार आधारित व्यवस्थाओं पर ही बल देते हैं। गांधीजी के लिए केंद्र में व्यक्ति है और फिर समष्टि है। यह भूमिका आध्यात्मिक ही नहीं, सामाजिक स्वास्थ्य के लिए भी गांधीजी ने ली है। गांधी-विचार का यही मर्म है।

पर, ढांचागत हिंसा पर शोध करने वाले विद्वान मानते हैं कि प्रत्यक्ष हिंसा तथा ढांचागत हिंसा से मुक्त समाज एक ऐसा आदर्श है जो कभी हासिल नहीं हो सकता। इसलिए उस आदर्श के जितना करीब पहुंच जाए, उतना बेहतर है। जहां तक पहुंचने का जरिया देखें तो फिर वही ढांचा ही है, पर ऐसा ढांचा—जो ज्यादा न्यायपूर्ण हो। पर, इसका फैसला कौन करेगा? और ऐसा ढांचा कौन बनाएगा? राज्य लोककल्याण हासिल कर सकता है, परंतु दुनिया के लगभग सभी देशों में वह यह प्रतिष्ठा खो चुका है। ढांचागत हिंसा को रोकने में 'हिंद स्वराज्य' में दिए गांधीजी के विचार ही हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं जिसकी जड़ें भारतीय संस्कृति में हैं। उन्होंने स्वयं कहा है कि मेरे ये विचार मौलिक नहीं हैं। मैंने ये भारतीय संस्कृति से लिए हैं।

जैन भारती के सुपरिचित लेखक, शोध और चिंतन में निरंतर रुचिशील विद्वान श्री चतरसिंह मेहता (1932) जाने-माने शिक्षाविद् भी हैं। अनौपचारिक और प्रौढ़ शिक्षा विभाग, राजस्थान के निदेशक पद से अवकाश (1990) ग्रहण करने के बाद भारत सरकार के राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (उत्तर क्षेत्र) के अध्यक्ष (1996-98) पद पर भी रहे। स्वीडन और जर्मनी के कुछ संगठनों में आप परामर्शद भी रहे हैं और कई देशों की यात्राएं भी की हैं। मेहताजी राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के परामर्शद भी रहे और राजस्थान के कई स्वैच्छिक संगठनों से भी जुड़े हैं। शिक्षा से संबद्ध कोई दर्जन-भर पुस्तकों के लेखक श्री चतरसिंह मेहता अभी भी शिक्षा संबंधी शोध, अध्ययन और चिंतन में निरत हैं और देश-भर की पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर लिखते रहते हैं। श्री मेहता इन दिनों 'सूचना के अधिकार' पर भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

अच्छा हो, देश के शीर्षस्थ सभी क्षेत्रों के व्यक्ति मिल-बैठ कर विचार करें, पवित्र भावना से क्रमिक योजना बनाएं और उस पर अमल भी करें, देश में सकारात्मक वातावरण बनाएं, तभी किसी हल की ओर बढ़ा जा सकेगा। ढांचागत हिंसा की रोकथाम की आज बड़ी आवश्यकता है—अहिंसक समाज की स्थापना के लिए।

विश्व मान्यता और भारत की जिम्मेदारी

अहिंसा जीवन-पद्धति को अब विश्व की मान्यता मिली है और संयुक्त राष्ट्रसंघ ने वर्ष 2007 में एक मत से गांधीजी के जन्म दिवस 2 अक्टूबर को विश्वभर में अहिंसा दिवस मनाने की घोषणा की है। यह एक आशावादी कदम है, शुरू हो तो आगे बढ़ें। महात्मा गांधी का मानना था कि अच्छी बात के प्रसार में कभी हार नहीं माननी चाहिए। जो

बात उन्होंने भारत के स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान कही थी, विश्व मान्यता के रूप में अब और आगे बढ़ी है। **महात्मा गांधी (अहिंसा का मार्ग : दिसंबर, 2007)** ने कहा था कि—'जब तक मैं अपने विरोधियों को अपने मत का न बना लूं, या अपनी हार स्वीकार न करूं, तब तक मुझे दलील करते ही रहना चाहिए, क्योंकि मेरा ध्येय प्रत्येक भारतीय को, यहां तक कि अंग्रेजों को भी और सारी दुनिया को अहिंसा के मार्ग पर चलने को राजी करना है, ताकि वे अपने राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक या धार्मिक संबंधों का अहिंसा पद्धति से नियमन कर सकें।'

विश्व अहिंसा दिवस का कदम सकारात्मक जरूर है, पर आज की विश्व-व्यवस्था को देखते हुए आशा के साथ शंका होना भी स्वाभाविक है। यह शंका प्रकट की है **प्रोफेसर सिद्धेश्वर प्रसाद (हिंसक समाज में अहिंसक व्यक्ति : अगस्त, 2008)** ने। वे लिखते हैं—मगही की कहावत का भाव है—पंचों की बात सर-आंखों पर, खूंटा यही रहेगा। गांधीजी के जन्म दिवस को अहिंसा दिवस घोषित कर देने से संयुक्त राष्ट्रसंघ के काम-धाम के तौर-तरीके में कोई परिवर्तन आएगा, ऐसा मान कर चलना भयंकर भूल होगी। हमें अपने भीतर झांक कर स्वयं देखना चाहिए कि क्या भारत महात्मा गांधी के मार्ग पर चल रहा है? उन्हें राष्ट्रपिता कहना एक रस्म अदायगी है। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी ऐसा ही किया है। ऐसे वाचिक सम्मान से संसार के राज-काज और आचार-व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आने वाला है।

श्री धीरुभाई मेहता (हिंसा-अहिंसा, गांधी और हम : सितंबर, 2008) ने घोषणा पर प्रसन्नता तो जाहिर की, पर बेबाक शब्दों में कहा कि हम अहिंसा की बातें खूब करें और देश के भीतर हिंसा का तांडव चलता रहे तो इससे गांधीजी की शिक्षा का कोई मेल नहीं बैठता। देश में फैल रही हिंसा के कारणों को समझ कर हम अपनी नीति नहीं बदलें, जो चल रहा है—चलता रहे, तो हमें गांधीजी का आदमी कहलाने का अधिकार कैसे है? हम गांधीजी के देश के नागरिक कैसे कहला सकते हैं? हम दुनिया से हिंसा के बारे में सवाल पूछें, इससे तो अच्छा है कि गांधीजी को साक्षी मान कर हम सब खुद से ही वे सारे सवाल पूछें। अहिंसा इसी रास्ते हमारे यहां पहुंचेगी और हमारे समाज को मजबूत करेगी।

अहिंसा की साधना

अहिंसा की साधना जरूर कठिन है, पर सार्थक कार्य कठिन ही होते हैं। मंजिल पर तभी पहुंचा जा सकता है, जब एक-एक कदम से उसकी ओर बढ़ा जाए। कदम कई हो सकते हैं। **आचार्यश्री महाप्रज्ञ (अहिंसा का प्रशिक्षण : अक्टूबर, 2007)** ने आरंभ से ही अहिंसा के प्रशिक्षण पर बल दिया है। उनका विचार है कि विद्यार्थी में आरंभ से ही अहिंसा के संस्कार का निर्माण किया जाए, तो विश्व शांति को सुस्थिर आधार दिया जा सकता है। वे कहते हैं कि अहिंसक व्यक्तित्व के निर्माण के लिए सैद्धांतिक व प्रायोगिक परिकल्पना होनी चाहिए। पारिवारिक जीवन से लेकर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में व्याप्त हिंसा को दूर कर समानता, सापेक्षता और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की जीवन-शैली का विकास किया जाना चाहिए। इस कार्य के लिए आवश्यक है—अणुव्रत, सर्वोदय, राजनीति, समाज-विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि क्षेत्रों के धुरीण व्यक्ति गहन चिंतन और मंथन करें और अहिंसक जीवन-शैली समाज के सामने प्रस्तुत करें। अहिंसात्मक स्तुति अथवा महिमागान समाज-व्यवस्था को बदलने के लिए कारगर नहीं होगा। कारगर होगा प्रशिक्षण का व्यापक कार्यक्रम।

सुश्री राधा भट्ट (अहिंसा-एक अनुभवजन्य चिंतन : मार्च, 2008) ने भी इसी बात पर बल दिया है। उनका विचार है कि 'अहिंसा समाज का गुण बने, इसके लिए व्यक्ति-व्यक्ति को अहिंसा के मूल्यों में बचपन से ही प्रशिक्षित होना जरूरी है। देश की भावी पीढ़ी की शिक्षा में औपचारिक अथवा अनौपचारिक रूप से अहिंसा के प्रशिक्षण को स्थायी स्थान दिया जाना जरूरी है, जिससे परिग्रह और उपभोग प्रधान जीवन-शैली को एकमात्र प्रगति मानने वाले इस प्रवाह से बाहर निकलने का साहस हमारे बच्चों व युवाओं में आ जाए। वे यह भी समझ सकें कि उन्हें अहंकारपूर्वक मानव-जाति को श्रेष्ठ समझने की भूल न करके सभी मानवेतर सृष्टि को जोड़ कर एक समग्र समाज के साथ जीना है। सृष्टि के साथ इस संवादिता को वे जोड़ सकें, उनके जीवन, जीविका के साधन, उनका पेशा, उनका राज्य व राजनीति—कोई भी सृष्टि के साथ ही उनकी संवादिता को न तोड़े, उसके प्रति वे सचेत हो जाएं, मन से भी, बुद्धि और व्यवहार से भी।

इस सबके लिए मन की सक्रियता, मन-सहयोग की प्रक्रिया पर बात की गई है। **महात्मा गांधी (अहिंसा का मार्ग : नवंबर, 2007)** ने मन से पाली जाने वाली अहिंसा

को असली अहिंसा बताते हुए कहा है कि अहिंसा प्रचंड शक्ति का रूप ले, उसके लिए इसका आरंभ मन से ही होना चाहिए। मन के सहयोग के अभाव में पाली जाने वाली अहिंसा कमजोर की या कायर की अहिंसा होगी। ऐसी अहिंसा में कोई शक्ति नहीं होती। यदि हमारे मन में विरोधी के लिए द्वेष व घृणा भरी हो और हम उससे बदला न लेने का ढोंग करें, तो वह भी हमें इसका शिकार बनाएगा और सर्वनाश की दिशा में ले जाएगा। यदि दूसरों को चोट न पहुंचाने की दृष्टि से हम केवल शारीरिक हिंसा से बचना चाहें तो भी कम-से-कम मन में घृणा का भाव न रखना तो जरूरी है ही—भले हम भीतर सक्रिय प्रेम का विकास न भी कर पाएं।

डॉ. रामजीसिंह (अहिंसा का वैशिष्ट्य : फरवरी, 2008) ने यूनेस्को के प्रसिद्ध वाक्य की याद दिलाते हुए कहा है कि हिंसा या युद्ध मानव मस्तिष्क से उत्पन्न होता है, अतः शांति व अहिंसा की स्थापना भी मानव मस्तिष्क से शुरू होनी चाहिए। अपने ही विचार, अपने ही शास्त्र, अपने ही धर्म को पूर्ण समझ लेने से दूसरों की उपेक्षा होती है और इसी कारण हिंसा बढ़ती है। मन की प्रचंड शक्ति का प्रमाण देते हुए इसे विकसित करने पर **प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद (हिंसक समाज में अहिंसक व्यक्ति : अगस्त, 2008)** ने भी जोर दिया है। वे लिखते हैं कि सत्य मूलतः एक है, पर उसके असंख्य रूप हैं। इसे विज्ञान ने इस सूत्र के रूप में सिद्ध कर दिया है—$E=mc^2$, पर उसकी व्यापक परिस्थितियों पर अभी तक संसारभर में कोई गंभीर चिंतन हुआ ही नहीं है। इस पर विचार ही नहीं किया गया है कि परमाणु से यदि भयानक शक्ति वाला परमाणु बम बन सकता है तो इससे भी सूक्ष्म 'मन की शक्ति' को विकसित करने की ओर मानव समाज क्यों नहीं ध्यान दे रहा है? अहिंसा की शक्ति का तेज 'मन की शक्ति' के विकास से ही प्रकट हो सकता है।

एक नायाब सुझाव दिया है **श्री शुभू पटवा, मानद संपादक जैन भारती (अहिंसक गणराज्य की अपेक्षा, संपादकीय (प्रसंग) : जनवरी, 2008)** ने। वे लिखते हैं कि हमारे संविधान में नागरिक के मूल अधिकार भी उल्लिखित हैं। मूल अधिकारों में समता का अधिकार, स्वातंत्र्य का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वातंत्र्य का अधिकार, संस्कृति व शिक्षा संबंधी अधिकार तथा सांविधानिक उपचारों का अधिकार उल्लिखित है। अपने मूल अधिकारों की रक्षा और इनको नियंत्रित करने की विधियां भी संविधान में स्पष्ट हैं। अपने इन मूल अधिकारों से भी एक 'अहिंसक गणराज्य' की अपेक्षा पूरी होती हो, यह नहीं मान सकते। कहा तो यह भी जा सकता है कि 'अहिंसक गणराज्य' जुड़ जाने से भी क्या भारत गणतंत्र अहिंसक हो जाएगा? वास्तविकता और सैद्धांतिकता के बीच का अंतर समझते हुए हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि कोई सिद्धांत जब विधाई रूप ग्रहण कर लेता है तो उसकी मान्यता भी स्थापित हो जाती है और तब अहिंसक रीति-नीति को अंजाम देने का रूप-स्वरूप भी अपेक्षतया प्रभावी हो सकता है। अतः यह विचारणीय होना चाहिए कि भारतीय गणतंत्र एक 'अहिंसक गणराज्य' के रूप में अपने को सांविधानिक तौर पर स्वीकार करे। तब हमारी शिक्षा, हमारी आर्थिक नीतियां, हमारी प्रौद्योगिकी में ऐसा कुछ नहीं हो सकेगा जिससे हिंसा की संभावना प्रकट हो। तब हमारी सेना भी 'शांति सेना' कहलाएगी और युद्ध की संभावनाओं को कमतर करने में उसकी भूमिका होगी। उनकी राय में सर्वप्रथम जिस इच्छाशक्ति की आवश्यकता है, वह हमारी शासन व्यवस्था में सर्वात्ममना नजर आनी चाहिए। ऐसा सांविधानिक प्रस्तावना के रूप में ही सबल व स्पष्ट रूप से नजर आ सकता है। हमारे संविधान में अब तक जितने संशोधन हुए हैं, उन्हें देखते हुए ऐसा होना संभव है। उनका मानना है कि यह सब राजनीतिक इच्छाशक्ति पर अवलंबित है। हमारी संसद में यह इच्छाशक्ति प्रादुर्भूत हो, इसके प्रयत्न होने चाहिए। इसके लिए दृढ़ जनमत निर्माण की आवश्यकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ (अहिंसा की त्रिपदी : दिसंबर, 2007) ने अहिंसा की संकल्पना को विश्व में आगे बढ़ाने और अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस में सक्रियता लाने व उसे मूर्त रूप देने के लिए एक व्यावहारिक सुझाव दिया है। उनके अनुसार अहिंसा क्षेत्र में कार्य करने वाली स्वयंसेवी संस्थाओं का संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक मंच हो। इसी तरह अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाली संस्थाओं का अपना एक स्वतंत्र मंच भी हो, उसका अपना अर्थशास्त्र हो, समाजशास्त्र हो, आचार-संहिता हो। यदि हम यह बात प्रस्तुत नहीं करेंगे तो अहिंसा विश्व-मानस में अपना स्थान नहीं बना पाएगी।

समझना-समझाना कठिन

महात्मा गांधी (अहिंसा का मार्ग : नवंबर, 2007) ने अहिंसा के मार्ग को कठिन तो बताया पर इसे विवेक

शक्ति के आधार पर समझने की सलाह दी। वे कहते हैं कि अहिंसा को समझना कठिन है। उसे आचरण में लाना तो हमारे जैसे कमजोर मनुष्यों के लिए और भी ज्यादा कठिन है। हमें प्रार्थना की वृत्ति धारण करके नम्र भाव से काम करना चाहिए और भगवान से निरंतर प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमारी विवेक की आंखें खोल दे, ताकि प्रतिदिन हमें जो विवेक दृष्टि प्राप्त हो उसके अनुसार काम करने के लिए हम सदा तैयार रहें।

श्री कुमार प्रशांत (समझने-समझाने की कसौटी पर अहिंसा : अप्रैल, 2008) ने धरातलीय स्थिति का जिक्र करते हुए बेबाक शब्दों में पते की बात कही है। उनका मानना है कि अहिंसा का सवाल बहुत ही उलझा हुआ है। आज बातों को उलझाना विद्वत्ता या वैज्ञानिकता मानी जाती है। उलझाते तब है, जब उन्हें ठीक से समझ नहीं पाएं हों। विचार को समझने की कसौटी यह है कि वह विषय दूसरों को समझा सकते हैं या नहीं। हमें अहिंसा का एहसास ही नहीं हुआ है। अहिंसा हमारे पास बहुत करके बुद्धि के रास्ते आई है, जिसने हमें बताया है कि कुछ परिस्थितियां ऐसी होती हैं जहां अहिंसा से ही बात बनती है। हिंसा का स्वयंसिद्ध रास्ता तो है ही हमारे पास, अहिंसा से भी देख लेते हैं—ऐसा मानस अहिंसा के बारे में हमारा है।

वे आगे बताते हैं कि हिंसा का सवाल आसान भी है और सरल भी। हमें उसका एहसास है। हम रोज उसे अपने आस-पास पाते हैं और यह भी देखते हैं कि वह कुछ-न-कुछ जवाब भी देता ही है। हिंसा हमारी परिचित है—अपने तमाम रूपों-स्वरूपों में। हिंसा हमारी परिचित है अतः उसकी व्याख्या करने की जरूरत नहीं पड़ती। दूसरी तरफ देखें तो अहिंसा भी हर वक्त, हर स्तर पर काम करती है, सुबह से शाम, प्रकृति में, पर वह हमें दिखाई नहीं देती। दिखाई देती है तो शारीरिक शक्ति, स्पर्धा और इनसे पैदा हुई हिंसा; परिवार, समाज और इनसे मिलकर बनी सभी प्रकार की संरचनाओं में। जातीय गौरव ललकारता है, भड़काऊ भाषण के सहित कई धर्मगुरु भी ऐसा ही करते हैं, सरकारें जनता पर वहशियाना हमला कर भी शर्मिंदा नहीं होतीं। हमारा प्रायः सारा ही तंत्र ऐसा ही करने में लगा रहता है और कहीं भी मानवीय गरिमा व स्वतंत्रता के पक्ष में खड़ा नहीं होता है। कितना कठिन है अहिंसा को समझना व समझाना!

स्वामी ब्रह्मेशानंद (अहिंसा परमोधर्म : एक विमर्श : मई, 2008) ने उन पक्षों की बात की है जिनके कारण अहिंसा का असली पक्ष कमजोर हो गया है। वे लिखते हैं कि सभी साधनों की समस्या होती है कि साधन ही साध्य बन जाते हैं। उन पर इतना अधिक बल दिया जाने लगता है कि लोग लक्ष्य को भूल जाते हैं। सभी साधनों की तरह अहिंसा के भी दो पक्ष हैं—स्थूल-शारीरिक या भौतिक और सूक्ष्म-भावरूप या मानसिक। कालांतर में स्थूल पक्ष पर अधिक जोर दिया जाने लगता है, क्योंकि वह सरल होता है, आसानी से समझ में आ जाता है तथा प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उसकी सामाजिक मान्यता होती है तथा प्रशंसा भी प्राप्त होती है। अहिंसा के संबंध में भी यही बात है। मानसिक या भाव-अहिंसा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अधिक कठिन होती है। किसी प्राणी की हत्या न करना आसान है, लेकिन किसी के प्रति द्वेषभाव पूरी तरह त्यागना कठिन है। अतः अहिंसा कालांतर में प्राणी-हत्या नहीं करना, निरामिष भोजन-त्याग आदि में ही परिवर्तित होकर रह जाती है, मैत्री भाव बढ़ाने को गौण महत्त्व मिलने लगता है। यही नहीं, साधना का नकारात्मक पहलू प्रबल हो जाता है। दूसरे के कष्ट को लाघव करना अहिंसा का अंग है, यह बात गौण हो जाती है। यह अहिंसा-साधना की एक बड़ी समस्या है।

उपसंहार

समस्याएं तो बहुत हैं, समझना-समझाना भी कठिन है, पर यह भी सच है कि प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा है। कहते हैं, आत्मा तो ज्ञान है। ज्ञान सोया हुआ भी हो सकता है और जागा हुआ भी। ज्ञान यदि सोया हुआ हो, तो उसके चारों ओर अज्ञान इकट्ठा हो जाता है। आत्म-ज्ञान और आत्म-अज्ञान में केवल जागे हुए और सोए हुए का ही अंतर है। जागरण हो जाए, विवेक आ जाए, होशपूर्वक कार्य किया जाए—तो जो कार्य न किए जाने योग्य है, वह किया ही नहीं जा सकता। मनुष्य का स्वभाव है कि वह किसी सार्थक कार्य को—जो कठिन तो होता है—कठिन कह कर, अपने सामर्थ्य के बाहर बता कर, हम तो साधारण लोग हैं—कह कर उसे न करने के पक्ष में संतुष्टि का कारण ढूंढ़ लेता है। फिर न करने योग्य कार्य भी करता रहता है। असल में कोई मनुष्य सामान्य नहीं है, लेकिन इसका पता

शेष पृष्ठ 47 पर

आचार्यश्री महाप्रज्ञ का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

❑ डॉ. प्रमोदकुमार लाटा ❑

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मंत्र है—जैसा मन, वैसा भाव और जैसा भाव वैसा स्राव। शरीर-मनोविज्ञान की परम अवस्था यही है कि हम जैसा भाव रखते हैं, वैसा ही हमारा शरीर प्रतिक्रिया करता है।

हमारे शरीर में ग्रंथियों के ऐसे केंद्र हैं, जिनसे जीवन में परिवर्तन किया जा सकता है। शरीर में सारी शक्तियां हैं लेकिन हम उनसे अज्ञात बने रहते हैं। निषेधात्मक भावों को मिटा कर विधायक भावों को कैसे लाया जा सकता है? उसकी सारी पद्धतियां शरीर में विद्यमान हैं, किंतु हमने इस दृष्टि से शरीर को न देखा और न समझा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इसे जीवन-विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान के माध्यम से समझने के अनेक प्रयोग प्रतिपादित किए हैं।

जब हम मानव-मात्र की कल्पना करते हैं तो उसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होता है और तब एक सार्वभौम मानव-सत्ता की कल्पना भी साकार होती है। इसी आधार पर मन और आत्मा की कल्पना भी की जाती है। इसीलिए भारतीय दर्शन ने इस बात पर बल दिया है कि मनुष्य अपने-आप को जाने, अपनी आत्मा को पहचाने और योग-साधना के द्वारा अपना सर्वांगीण विकास करे।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी तेरापंथ संघ के आचार्य हैं, पर प्रखर दार्शनिक और मनीषी चिंतक हैं। इनका चिंतन व्यक्ति के सर्वांगीण विकास को प्रतिपादित करता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए मुनिश्री धनंजयकुमार कहते हैं—'आचार्यश्री महाप्रज्ञजी दार्शनिक हैं, लेकिन शुष्क तर्क में उलझे हुए दार्शनिक नहीं हैं—वे द्रष्टा ऋषि हैं। आपने दर्शन को तर्क के घेरे से मुक्त कर उसे साक्षात्कार के आलोक में देखा है। द्रष्टा वही है, जो साक्षात अनुभूति में विश्वास करता है। प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान का जो प्रायोगिक उपक्रम प्रस्तुत किया है, वह इसी द्रष्टा व्यक्तित्व की उपलब्धि है।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का चिंतन दार्शनिक तो है ही, साथ ही उसमें मनोवैज्ञानिक तथ्यों का भी समावेश हुआ है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं अंतरराष्ट्रीय पहलुओं पर अपने दार्शनिक विचार व्यक्त किए हैं।

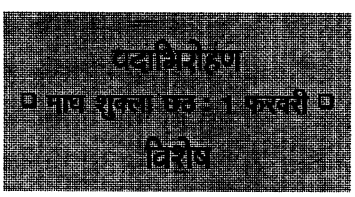

धर्म, दर्शन एवं योग से प्रेरित उनके चिंतन ने शिक्षा के जगत में जीवन-विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान विषय का प्रतिपादन किया है। यह चिंतन व्यक्ति के सर्वांगीण व्यक्तित्व की आधारशिला स्थापित करता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चिंतनानुसार प्राण की तरह मन भी सर्वत्र व्याप्त है। बाहर भी मन है और हमारे अंदर तो मन है ही, यहां तक कि हमारी कोशिका तक मन की पहुंच होती है। मन का प्रत्येक उद्वेग, प्रत्येक विचार उन कोशिकाओं को स्पर्श करता है। मन की बदलती हुई

अवस्थाओं से वे कोश विशेष प्रभावित होते हैं। मन में कभी कोई उलझन पैदा हो जाए, निराशा छा जाए या ऐसी ही कोई अवांछित संवेदना निर्मित हो जाए तो शरीर के प्रत्येक कोश तक उसकी अनुभूति तार की भांति तुरंत ही नाड़ियों द्वारा पहुंचा दी जाती है। जो सैनिक कोश हैं, उन्हें धक्का लगता है, वे दुर्बल हो जाते हैं। वे अपना काम ठीक से नहीं कर पाते और अक्षम बन जाते हैं। इस मनोवैज्ञानिक समस्या के समाधान हेतु आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस सिद्धांत को और अधिक विकसित किया। मनोविज्ञान के साथ-साथ चिकित्सा-विज्ञान से भी उसका आधार जोड़ा। प्रत्येक पहलू पर इनका दृष्टिकोण दोनों कसौटी पर खरा उतरता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चिंतन के कुछ मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर एक नजर—

आध्यात्मिक शिक्षा

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को आध्यात्मिक गुरुओं का सान्निध्य प्राप्त रहा है। अतः इनका चिंतन आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का रहा है। उनके अनुसार शिक्षा का कार्य यह है कि उससे परस्परता की चेतना का विकास हो, समाजीकरण का विकास हो। हम अनुभव करते हैं कि स्वार्थ बहुत बढ़ा है, परमार्थ कम हुआ है। इसका कारण है कि आज की प्रचलित शिक्षा में परमार्थ की चेतना को उजागर करने वाले तत्त्व कम हैं और स्वार्थ-चेतना के तत्त्व अधिक हैं। आदमी की चेतना परमार्थ तक जाती ही नहीं, वह स्वार्थ तक ही सीमित रह जाती है। व्यक्ति वैयक्तिक स्वार्थ तक सीमित रह कर यह भूल जाता है कि जीवन में किसी तत्त्व (आवश्यकता) की पूर्ति हो, यह संभव नहीं है, क्योंकि जलपान से प्यास की पूर्ति नहीं होती, न भोजन से भूख की। इसी प्रकार जीवन में जिज्ञासा की पूर्ति हो, यह भी संभव नहीं है। तो क्या हमारा यह जीवन वर्तमान आवश्यकता या जिज्ञासा की पूर्ति कर पाएगा? ऐसे अनेक भौतिक व आध्यात्मिक प्रश्नों से मनुष्य स्वयं को घिरा हुआ पाता है। इन सभी जिज्ञासाओं का समाधान आध्यात्मिक शिक्षा से ही संभव है, क्योंकि इसी से जन्म एवं मृत्यु के रहस्य से परदा उठ सकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार जीवन न तो जन्म है और न मृत्यु। उसका किसी शरीर में प्रारंभ बिंदु है तो दूसरा उसके अभाव की उद्घोषणा करने वाला तथ्य है। जीवन तो इन दोनों के ऊपर है, जन्म और मृत्यु एक शरीर में उसके आगमन एवं चले जाने की सूचनाएँ भर हैं, वह इनसे अप्रभावित है। सच्चा जीवन आत्म चेतना है, अप्रमत्त दशा है, समभाव में अवस्थिति है। आचार्यश्री ने इसे ही स्व-स्वरूप में 'रमण' कहा है। आध्यात्मिक शिक्षा का आधार साधना होती है। साधना का लक्ष्य साध्य की उपलब्धि या सिद्धि है जो हमें यह बताती है कि हमें क्या होना है, किंतु हमें क्या होना चाहिए—यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम क्या हैं? हमारी क्षमताएं एवं संभावनाएं क्या हैं? ऐसा साध्य या आदर्श, जिसे उपलब्ध करने की क्षमताएं हममें न हों, जिसको प्राप्त करना हमारे लिए संभव नहीं हो, वह एक छलना, दिखावा या माया ही होगी। साधना के लक्ष्य का किस प्रकार नियोजन कर सकें एवं साध्य की उपलब्धि हमारे लिए सरल कैसे हो? इस मनोवैज्ञानिक गुत्थी को सुलझाने एवं खोलने के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को अधिक गंभीरता से समझा और अपनी साधना-पद्धति को ठोस मनोवैज्ञानिक आधार देते हुए जीवन-विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान की नींव रखी।

आत्मा

भारतीय दर्शन परंपरा में जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैन परंपरा में प्रव्रज्याधारी हैं। यही कारण है कि उनका आत्मवादी चिंतन जैन दर्शन के अनुसार है, फिर भी आचार्यश्री के प्रखर चिंतन में आत्मतत्त्व का सार्वभौमिक स्वरूप प्रकट होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का आत्मा से संबंधित संपूर्ण दृष्टिकोण जैन दर्शन के आत्म-स्वरूप पर ही केंद्रित है। जैन दर्शन में आत्मा को नित्य-अनित्य, अलौकिक-भौतिक मानते हैं। इस कारण वह सूक्ष्म न होकर शरीरधारी है। भौतिक गुणों के कारण आत्मा का एक परिमाण भी होता है। चूंकि आत्मा शरीरधारी है, इसलिए उसका आकार शरीर के आकार के अनुरूप होता है। दूसरे शब्दों में, शरीर के साथ आत्मा का परिमाण घटता-बढ़ता रहता है। इस प्रकार आत्मा का गुण संकोच और विकास है। ये भौतिक पदार्थ के गुण हैं। भौतिक गुणों की अभिव्यक्ति संसार में होती है। जब आत्मा संसार के पर्यावरण में होती है, तब उसे 'जीव' कहते हैं। किंतु व्यवहार दशा में कर्म की गति पांच भाव प्राणों से 'जीव' युक्त रहता है, जिसके कारण 'जीव' का परिशुद्ध रूप छिप जाता है और तत्पश्चात् वही भाव दशापन्न 'प्राण', 'द्रव्य' रूप में परिणत होकर 'पुद्गल' रूप में व्यक्त हो जाता है और फिर वह 'जीव', 'संसारी' कहलाता है। जैन मनोविज्ञान की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है, क्योंकि इसके आधार पर जीव के गुणों की व्याख्या की जाती है। जीव का शरीर से अभिन्न संबंध होने के कारण शरीर को 'मोक्ष' का एक आवश्यक साधन मानते हैं। इसलिए शरीर

संबंधी समस्त क्रियाओं का बड़ा महत्त्व है और यही कारण है कि जैन जीवन में आचार का बड़ा महत्त्व है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैन जीवन-दर्शन के पांच आवश्यक व्रत हैं। इन व्रतों का पालन करके व्यक्ति मुक्त जीवी बनने का प्रयास करता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी मानते हैं कि आत्मा एवं शरीर-शुद्धि के लिए व्रतों के साथ-साथ ध्यान, संयम एवं तप का प्रयोग भी उपयोगी है। ध्यान एवं संयम में संपूर्ण आचार मीमांसा का समावेश हो जाता है। व्यक्ति के जितने भी कार्य होते हैं, वे आत्मा कृत होते हैं। व्यक्ति में असीम क्षमताओं का विकास हो सकता है। इस दृष्टिकोण को रखते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने प्रेक्षाध्यान के अंतर्गत अंतर्यात्रा के द्वारा व्यक्ति की अंतःशक्ति के जागरण की पद्धति को बतलाया है। शरीर में तेरह शक्ति-केंद्र होते हैं, जिन पर ध्यान करने से व्यक्ति असीम शक्तियों को अर्जित कर सकता है।

मन–समष्टि और व्यष्टि

यह तो ज्ञात है कि हमारी ज्ञानेंद्रियां बिना मनोयोग के काम नहीं करतीं। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, पंच-कोश और जागृति और सुषुप्ति—ये सब मन की वृत्तियां हैं। संकल्प, भावना, क्रोध तथा अन्य विकार—ये भी मन के ही परिणाम हैं। मन सभी इंद्रियों का राजा है। कुछ दार्शनिकों का कहना है कि यह समस्त संसार वस्तुतः मानव-मन की ही वृत्ति मनोमात्र जगत है। अर्थात् एक समष्टि मन है। मन में स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द में इंद्रिय-ज्ञान की प्रवृत्ति होने के पश्चात् मन की प्रवृत्ति होती है। जब इंद्रियां अपने-अपने विषय का ज्ञान कर लेती हैं, तब उन विषयों पर मनन करना मन का काम है। इसके अतिरिक्त चिंतन आदि में मन की प्रवृत्ति स्वतंत्र भी होती है।

मन की तीन क्रियाएं हैं—स्मृति, चिंतन-मनन और कल्पना। स्मृति तब होती है, जब धारणा होती है। धारण का अर्थ है—संचय कोश। हमारे मस्तिष्क में असंख्य संचय कोश (Brain Cells) हैं। इनमें स्मृति संचित रहती है। बाहरी उत्तेजनाओं से वह प्रकट होती है। स्मृति के आधार पर विचार होता है, फिर कल्पना होती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपनी पुस्तक—**किसने कहा मन चंचल है**—में निष्कर्ष रूप में यह स्वीकार किया है कि मनुष्य की वृत्ति चंचल होती है, न कि मन।

शरीर और मन

शरीर और मन पौद्गलिक है और चित्त अपौद्गलिक है। फिर भी सापेक्षता के सूत्र में बद्ध होने के कारण ये परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। परमाणु के चार गुणों—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण में से रंग (वर्ण) चित्त को सबसे अधिक प्रभावित करता है। हमारा चित्त नाड़ी संस्थान में क्रियाशील रहता है और उसका मुख्य केंद्र है—मस्तिष्क। वह अंतर्जगत में सूक्ष्म चेतना से जुड़ा हुआ है। यहीं से उसे गतिशीलता के आदेश-निर्देश प्राप्त होते रहते हैं। बाह्य जगत में वह अपने प्रतिबिंबभूत आभामंडल से जुड़ा होता है। जैसा आभामंडल होता है, वैसा चित्त होता है। आभामंडल को देख कर चित्त को जाना जा सकता है और चित्त के विकारों का उपचार किया जा सकता है। आभामंडल में किसी भी रंग की अधिकता एवं कमी को जानकर उसे संतुलित किया जा सकता है।

शरीर का हमारी चेतना से इतना घनिष्ट संबंध है कि शरीर के अणु-अणु में चेतना व्याप्त है। चेतना के बिना शरीर की प्रवृत्ति नहीं होती और शरीर के बिना चेतना की अभिव्यक्ति नहीं होती। अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा और पहला साधन है—शरीर। इस निकटता के कारण, इस तादात्म्य जैसी स्थिति के कारण शरीर को चेतन बतलाया है। हमारे शरीर के अणु-अणु में चेतना व्याप्त है। इसीलिए जो निर्देश हम शरीर को देते हैं—वह शरीर को नहीं, हमारी चेतना को निर्देश प्राप्त होते हैं और चैतन्यमय अणु हमारे निर्देश को स्वीकार करते हैं और हम जिस निर्देश में ले जाना चाहते हैं, उस ओर जाने को तैयार हो जाते हैं। यदि हम निर्देश की बात को ठीक से समझें और ध्यान करने से पहले अपने शरीर को ठीक से निर्देश दें और देने का अभ्यास करें तो शरीर में अद्भुत रूप से स्थिरता आने लगेगी। मन की स्थिरता के लिए शरीर की स्थिरता जरूरी है। शरीर के स्थिर होने पर मन स्थिर हो जाता है।

मन पर ध्यान करने वाले लोगों की शिकायत हमेशा यह रहती है कि मन स्थिर नहीं रहता। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मानना है कि मन को तब तक शून्य नहीं किया जा सकता, जब तक हम अपने संस्कार-कोश को नहीं समझ लेते, संस्कार-जागरण की प्रक्रिया का शमन कैसे हो सकता है—इस बात को नहीं समझ लेते। चंचलता आ रही है—शरीर के माध्यम से या स्मृति के माध्यम से। स्मृति और शरीर—ये दोनों बहुत निकट आ जाते हैं। निकट इस अर्थ में कि स्मृति का कोश हमारे मस्तिष्क में है और यह केवल मनोविज्ञान की दृष्टि से ही नहीं, जैन आगमों की दृष्टि से

भी हम विचार करें तो जितना हमारा वीर्य है, शक्ति है, वह सारी की सारी पौद्गलिक शक्ति के आधार पर होती है। इसी से मन की ऊर्जा उत्पन्न होती है। स्मृति के जो प्रकोष्ठ हैं, उनको केंद्रित किया जा सकता है।

द्वंद्वात्मक व्यक्तित्व

व्यक्ति संकल्प करता है कि वह बुरा न सोचे, न करे, किंतु यह संकल्प टूट जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसे जानने के लिए व्यक्तित्व की गहराई में जाकर जानना होगा। क्योंकि व्यक्ति के भीतर संक्लेश और असंक्लेश का प्रवाह होता है। जब संक्लेश का प्रवाह बाहर आता है तब बुरा न चाहने पर भी व्यक्ति का मन बुरे विचारों और भावों से भर जाता है। जब असंक्लेश का प्रवाह बाहर आता है, तब हमारा चिंतन, भाव, आचरण सम्यक् हो जाता है। शत्रु के प्रति भी बुरे विचार या भाव नहीं रहते।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'इस बात को बहुत गहराई से समझें, क्योंकि यह एक बड़ा रहस्य है। जो भी प्रवाह भीतर से बाहर आता है, वह शरीर के माध्यम से आता है। क्रोध, अभिमान, लोभ, वासना, आवेग, उत्तेजनाएं—ये सभी शरीर के माध्यम से बाहर आते हैं।'

द्वंद्व की दुनिया में अकेला कोई नहीं हो सकता, न केवल समस्या हो सकती है और न केवल समाधान। इस दुनिया में समस्या का उपादान भी है और निमित्त भी है। हम एक को पकड़ कर एकांगी हो जाते हैं। एकांगी होने का अर्थ होता है—समस्या का स्थायित्व। हमारी पहुंच केवल निमित्त तक होती है, तब समस्या उभर कर हमारे सामने आती है और जब हम निमित्त के दरवाजे से प्रविष्ट होकर उपादान तक पहुंचते हैं, तब समस्या स्वयं समाधान बन जाती है। अंतर्मुखी होना ही समाधान है। समस्या के अंतरंग को जानना, देखना और अनुभव करना अध्यात्म है। समस्या के आध्यात्मिक समाधान का आशय यही है कि हम पत्तों को न सींचें, उस मूल को सींचें, जिसका सिंचन पत्ते को जीवन देता है। हम परिणाम को समाधान न मानें, किंतु उस प्रवृत्ति को समाधान मानें, जिससे परिणाम का सृजन होता है। यहां मूल तक पहुंचना ही आध्यात्मिकता है। मानसिक और व्यावहारिक समस्या का समाधान आध्यात्मिकता से ही होता है।

कर्म

जैन दर्शन में कर्म का अत्यधिक जटिल विस्तार किया गया है, किंतु यहां उस विस्तार में न जाकर कर्म सिद्धांत पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का कर्म-संबंधित दृष्टिकोण का सारांश ही व्यक्त करना अधिक उपयुक्त रहेगा।

जीव और कर्म में घनिष्ट संबंध है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार कभी-कभी जीव कर्म में अधिक लय हो जाता है और उसकी लीनता इस सीमा की होती है कि वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। अतः कर्म के प्रभावों से मुक्त होने के लिए ध्यान-साधना आवश्यक है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मनोविज्ञान यह स्वीकार करता है कि व्यक्ति अपने जीवन में ऐसे कार्य और व्यवहार कैसे संपादित करे कि वह कालांतर में कर्मफल से मुक्ति पा सके, जो सुख-दुख से परे है। व्यक्ति अपने कर्म के प्रति सचेत रहे और इस प्रकार कार्य करे कि वह कालांतर में कर्मफल से छुटकारा पा सके। साधना से व्यक्ति कालांतर में वह स्थिति प्राप्त कर लेता है जो सुख-दुख से परे है।

व्यवहार

मनोविज्ञान में आनुवंशिकता का अध्ययन मानव-व्यवहार पर दूसरे प्रभाव को जानने के लिए किया जाता है। आनुवंशिकता का आधार 'क्रोमोसोम' है। 'जेनेटिक्स' के अध्ययन के फलस्वरूप यह भी मालूम हुआ है कि सभी मनुष्यों में बहुत से गुण समान रूप से पाए जाते हैं—जैसे शरीर की बनावट, शरीर के अवयव, रक्त-प्रणाली, श्वास-प्रणाली, तंत्रिका तंत्र और ज्ञानेंद्रियां। आनुवंशिकता के संबंध में दूसरी बात यह है कि सभी मनुष्यों में कुछ ऐसे गुण होते हैं, जो किसी दूसरे मनुष्य में नहीं पाए जाते। उदाहरण के लिए व्यक्ति की बुद्धि का स्तर, कल्पना एवं विचार शक्ति, व्यक्तित्व और स्वभाव इत्यादि। इस प्रकार हमें यह मालूम होता है कि मनुष्यों में अनेक समानताएं होते हुए भी वैयक्तिक भिन्नताएँ पाई जाती हैं।

पुनर्जन्म, सृष्टि, कर्म सिद्धांत स्वात्मानुभव पर आधारित है। जैन दर्शन में पुनर्जनम पर विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। मनोविज्ञान में संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चित्त के ऊपर जो प्रभाव अस्थायी रूप से पड़ जाता है, उसे 'संस्कार' कहते हैं। व्यक्ति का वर्तमान व्यवहार उसके पूर्व-जन्म के संस्कारों से प्रभावित होता रहता है। शिक्षा की दृष्टि से भारतीय जीवन में अनेक संस्कारों की व्यवस्था है। इन संस्कारों के मूल में यह भावना है कि व्यक्ति का जीवन सुखमय हो। पूर्व-जन्म से

जुड़े हुए संस्कारों का केंद्र चित्त होता है। संस्कारों का निवास चित्त में होता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मानना है कि अथक प्रयास के द्वारा अवांछनीय संस्कारों से मुक्ति मिल सकती है। संस्कारों से मुक्ति हेतु उनका मत है कि ध्यान-साधना की प्रेक्षाध्यान पद्धति के अनेक प्रयोगों से संस्कारों का परिष्कार किया जा सकता है। वर्तमान समय में व्यक्ति का व्यवहार धन से प्रभावित होता जा रहा है, इसीलिए वे कहते हैं—'व्यक्ति का व्यवहार धन से नहीं, अध्यात्म से प्रभावित होना चाहिए।'

ग्रंथियां

हमारे शरीर में बहुत-सी ग्रंथियां हैं। ये दो प्रकार की हैं—एक बहिस्रावी और दूसरी अंतःस्रावी। बहिस्रावी ग्रंथियां ऐसे 'हारमोन' की उत्पत्ति करती हैं, जिससे शरीर की आवश्यकता पूरी होती है। यदि किसी ग्रंथि के 'हारमोन' की आवश्यकता उसके समीप न होकर कुछ दूर होती है तो उस ग्रंथि से एक नली निकल कर उस अंग या स्थान तक जाती है, जहां 'हारमोन' की आवश्यकता होती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मानना है कि हम अपनी वृत्तियों के माध्यम से इन ग्रंथियों से स्रावित होने वाले स्राव को कम या अधिकता से स्रावित कराते हैं, ये दोनों ही अवस्थाएं शरीर के लिए हानिकारक सिद्ध होती हैं। अतः संतुलित स्राव हेतु हमें ध्यान-साधना का प्रयोग करना चाहिए। जिस ग्रंथि से स्राव कम या अधिक हो रहा है, उस ग्रंथि पर उसके अनुकूल रंग का ध्यान कर, उसके स्राव को कम, अधिक अथवा संतुलित किया जा सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मंत्र है—जैसा मन, वैसा भाव और जैसा भाव वैसा स्राव। शरीर-मनोविज्ञान की परम अवस्था यही है कि हम जैसा भाव रखते हैं, वैसा ही हमारा शरीर प्रतिक्रिया करता है।

हमारे शरीर में ग्रंथियों के ऐसे केंद्र हैं, जिनसे जीवन में परिवर्तन किया जा सकता है। शरीर में सारी शक्तियां हैं लेकिन हम उनसे अज्ञात बने रहते हैं। निषेधात्मक भावों को मिटा कर विधायक भावों को कैसे लाया जा सकता है? उसकी सारी पद्धतियां शरीर में विद्यमान हैं, किंतु हमने इस दृष्टि से शरीर को न देखा और न समझा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इसे जीवन-विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान के माध्यम से समझने के अनेक प्रयोग प्रतिपादित किए हैं।

अनुशासन

समाज में जीने वाला प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी संयम, नियम, नियंत्रण या अनुशासन के साथ जीता है। स्वतंत्रता की बात बहुत अच्छी है, किंतु हमारी बहुप्रभावी दुनिया में नाना प्रकार के संक्रमणों और प्रभावों से गुजरने वाली दुनिया में स्वतंत्रता सापेक्ष ही हो सकती है। निरपेक्ष स्वतंत्रता की बात कभी हमें प्राप्त नहीं होती। अनुशासन और नियंत्रण बराबर चलते हैं। बाह्य नियंत्रण को परानुशासन या आरोपित अनुशासन कहते हैं। भीतर से फूटने वाला नियंत्रण आत्मानुशासन कहलाता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार आत्मानुशासन तब प्रकट होता है, जब भीतर में जमे हुए संस्कार उखड़ते हैं। आत्मानुशासन प्राप्त करने के लिए आस्था की आवश्यकता है और इस विचार की कि मुझमें संस्कारों को उखाड़ने की क्षमता है। आत्मानुशासन को विकसित करने की क्षमता हमारे भीतर विद्यमान है। यह असंभव या अशक्य अनुष्ठान नहीं है और उसे अभ्यास के द्वारा किया जा सकता है और उसके सूत्र हैं—संयम और तपस्या। ये दो सूत्र प्रेरित करते हैं और आत्मानुशासन प्रकट हो जाता है। शरीर, श्वास, प्राण, वाणी और मन—ये पांच अनुशासित होकर एकत्रित होते हैं, तब अनुशासन कहलाता है। अनुशासन के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का एक महामंत्र है—**निज पर शासन फिर अनुशासन**। यह मनोविज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व उपलब्धि है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने मन के 'बहुआयामी-व्यक्तित्व' को समझने का तो प्रयत्न किया है, किंतु मन को वश में करने की बात शायद किसी ने भी नहीं की। वे अचेतन मन तक तो पहुंचे, परंतु परामन की ओर इशारा कुछ दार्शनिकों ने ही किया। ध्यान देने योग्य एक और तथ्य यह भी है कि उनमें अधिकांश दार्शनिक होने के साथ-साथ, डॉक्टर भी थे। इसीलिए उनका मुख्य उद्देश्य मानसिक चिकित्सा पर रहा, मन को शांत कर सच्चिदानंद प्राप्त करने पर नहीं रहा। किंतु, हम देखते हैं कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें मन के अतिसूक्ष्म स्वरूप से विराट स्वरूप तक का दर्शन कराता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने मन के द्वारा मानसिक चिकित्सा को ही प्राथमिकता न देकर, आध्यात्मिक सुख एवं शरीर चिकित्सा पर भी बल दिया है और मन के माध्यम से ही व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व को स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

❖

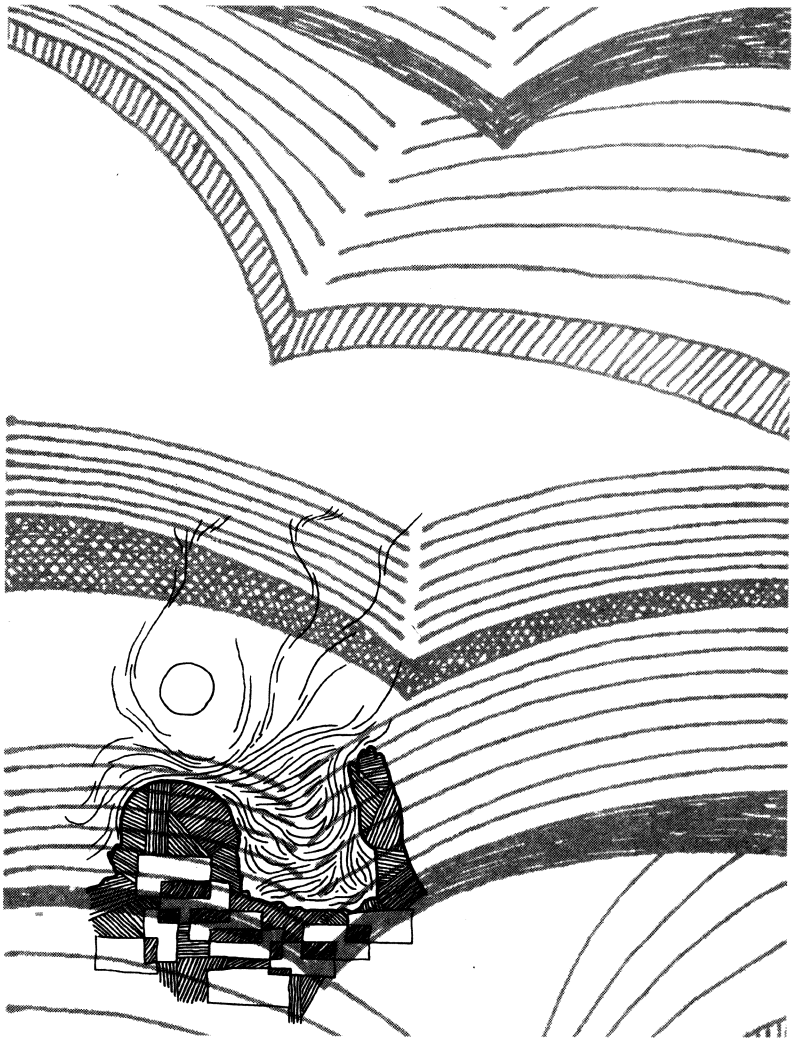

अनुभूति

भारत की सांस्कृतिक एकता की चर्चा अकसर एकांगी दृष्टि से की जाती है। कभी-कभी हम उसे देश की महान शास्त्रीय परंपराओं और विराट दार्शनिक उपलब्धियों से जोड़ लेते हैं। ये परंपराएं और उपलब्धियां निःसंदेह महत्त्वपूर्ण हैं, परंतु वे देश की संस्कृति का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। धर्मग्रंथ संस्कृति की धरोहर माने जा सकते हैं, परंतु सामाजिक जीवन उनके पृष्ठों में बंदी नहीं होता। स्थापत्य तथा रूपंकर और प्रदर्शनकारी कलाएं, काव्य और साहित्य भी संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं, परंतु संस्कृति का फलक कहीं अधिक विशाल और व्यापक है—उसके अंतर्गत मानव और प्रकृति, मानव और मानव, मानव और रहस्यमय अज्ञान और मानव के अंतर्जगत की गुत्थियों और समस्याओं का समावेश होता है। भारतीय संस्कृति की एकता और विविधता को इसी परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक है।

—श्यामाचरण दुबे

अनुशासन : अग्र और मूल का छेदन

❁

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

जो अध्यात्म शारीरिक अनुशासन को नहीं जगाता, प्राणिक अनुशासन को नहीं जगाता, मानसिक अनुशासन को नहीं जगाता—वह अध्यात्म वास्तव में अध्यात्म होता ही नहीं। जो संन्यासी, मुनि, संन्यास धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् केवल अध्ययन और अध्यापन में रह जाते हैं, केवल बौद्धिक सीमा में ही रह जाते हैं, बुद्धि को तीक्ष्ण करने की प्रवृत्ति में ही संलग्न रह जाते हैं और शारीरिक, मानसिक, वाचिक तथा प्राणिक अनुशासन की प्रक्रियाओं का प्रयोग नहीं करते, उन्हें अत्यधिक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है। क्या ब्रह्मचर्य की कम समस्या है? क्या सत्य बोलना जटिल समस्या नहीं है? क्या अहिंसक रहना—मनसा-वाचा-कर्मणा—किसी के प्रति अनिष्ट का भाव न लाना कम समस्या है? इन समस्याओं की महानदियों को सहजतया पार नहीं किया जा सकता, जब तक कि शारीरिक, वाचिक, मानसिक और प्राणिक अनुशासन न जाग जाए।

अनुशासन का अर्थ व्यावहारिक भाषा में नियंत्रण है, जबकि अध्यात्म की भाषा में अनुशासन का अर्थ है—संयम। अनुशासन की दिशा में अध्यात्म ने बहुत विकास किया है और एक नई क्रांति हुई है। व्यक्ति-व्यक्ति में भीतर का अनुशासन जगे—इस दिशा में बहुत कार्य हुआ है। बाहर के अनुशासन को छोड़ा नहीं, उसका आलंबन लिया, वह सहारा इसलिए लिया कि भीतर का अनुशासन जाग जाए। जीवन भर जो व्यक्ति बाहर के अनुशासन में चले, बाहर के नियंत्रण में चले—वह आध्यात्मिक कैसे हो सकता है ? आध्यात्मिक चेतना तो तब जागती है, जब बाहर का नियंत्रण कम हो जाता है या समाप्त हो जाता है।

महत्त्वपूर्ण अनुसंधान

भगवान महावीर ने संघ की व्यवस्था की और उस व्यवस्था में अनेक भूमिकाओं का निर्माण हुआ। पहली भूमिका में विधान बनाया, नियम बनाए और साधना करते-करते ऐसी भूमिका का विधान किया कि जहां पहुंचने पर साधक कल्पातीत हो जाता है। तब उसके लिए कोई शास्त्र नहीं होता, कोई नियम नहीं होता। वह स्वयं शास्त्र और स्वयं नियम बन जाता है। अध्यात्म की दिशा का यह एक महत्त्वपूर्ण अनुसंधान है।

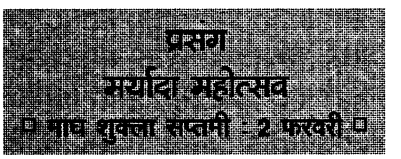

चेतना में परिवर्तन लाने के लिए अध्यात्म ने बड़े-बड़े प्रयोग किए हैं। आज विज्ञान जो कर रहा है, उससे ज्यादा चमत्कारपूर्ण परिवर्तन के प्रयोग किए गए हैं। शारीरिक अनुशासन, मानसिक अनुशासन, प्राणिक अनुशासन और वाचिक अनुशासन—इन सभी दिशाओं में इतने प्रयोग किए गए, इतनी खोज की गई कि आज बहुत सारी चाबियां खो जाने के बावजूद भी सैकड़ों-सैकड़ों प्रयोग जीवित हैं। आज भी बहुत मूल्यवान आविष्कार उपलब्ध हैं।

अनुशासन चतुष्टयी

जयाचार्यश्री (आचार्यश्री जीतमलजी) ने कहा—**तन चंचलता**

मेटने, पद्मासन आप बिराजे—प्रभो! आप शरीर की चंचलता को छोड़ कर पद्मासन में विराजमान हैं। यह किसलिए? पद्मासन में बैठना क्यों जरूरी है—यह इसलिए आवश्यक है कि शरीर को अनुशासित करना है।

जो अध्यात्म शारीरिक अनुशासन को नहीं जगाता, प्राणिक अनुशासन को नहीं जगाता, मानसिक अनुशासन को नहीं जगाता—वह अध्यात्म वास्तव में अध्यात्म होता ही नहीं। जो संन्यासी, मुनि, संन्यास धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् केवल अध्ययन और अध्यापन में रह जाते हैं, केवल बौद्धिक सीमा में ही रह जाते हैं, बुद्धि को तीक्ष्ण करने की प्रवृत्ति में ही संलग्न रह जाते हैं और शारीरिक, मानसिक, वाचिक तथा प्राणिक अनुशासन की प्रक्रियाओं का प्रयोग नहीं करते, उन्हें अत्यधिक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है। क्या ब्रह्मचर्य की कम समस्या है? क्या सत्य बोलना जटिल समस्या नहीं है? क्या अहिंसक रहना—मनसा-वाचा-कर्मणा—किसी के प्रति अनिष्ट का भाव न लाना कम समस्या है? इन समस्याओं की महानदियों को सहजतया पार नहीं किया जा सकता, जब तक कि शारीरिक, वाचिक, मानसिक और प्राणिक अनुशासन न जाग जाए।

पद्मासन : शारीरिक अनुशासन

पद्मासन शारीरिक अनुशासन है। पद्मासन में बैठने वाला साधक अपने प्राण-प्रवाह को बदल देता है। काम-केंद्र की ओर जाने वाला उसका प्राण-प्रवाह ऊर्ध्वगामी बन जाता है और वह ज्ञानकेंद्र तक पहुंच जाता है। जब प्राण

तेरापंथ : अनुशासन और विनय की धारा

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

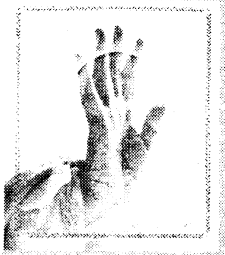

तेरापंथ धर्मसंघ का जितना व्यवस्थित संविधान है, अन्यत्र दुर्लभ है। पहले ही दिन कोई साधु वीतराग बन जाए, यह नहीं हो सकता, राग-द्वेष के संस्कारों को चीरती हुई प्रकाश की एक किरण किसी क्षण फूट गई, वैराग्य जाग गया और व्यक्ति मुनि बन गया। उसे धीरे-धीरे साधना करते-करते बहुत आगे बढ़ना होता है। अतीत में भी साधुओं ने क्या नहीं किया? महावीर के शिष्यों ने उनके साथ कैसा व्यवहार किया—यह जान लेने पर मर्यादा और व्यवस्था की अनिवार्यता सहज ही समझ में आ जाती है।

शासन, संगठन, पद-व्यवस्था, महत्त्वाकांक्षा और न्याय—ये सारी बातें संगठन से जुड़ी हुई हैं। आचार्य भिक्षु ने दलबंदी पर प्रहार कर धर्मशासन को सुंदर और भव्य रूप दे दिया। उसका ही यह परिणाम है कि तेरापंथ एक नेतृत्व में एकजुट होकर प्रगति कर रहा है।

आचार्य भिक्षु से पूछा गया—यह संगठन कब तक चलेगा? आचार्य भिक्षु ने कहा—जब तक नीति शुद्ध रहेगी, एक नेतृत्व की बात चलेगी, संगठन ठीक चलेगा, सबके साथ न्याय होगा, साधु-साध्वियों का आचार-व्यवहार ठीक रहेगा तब तक यह संघ अबाध गति से चलता रहेगा।

आचार्य भिक्षु का यह मार्मिक वाक्य प्रत्येक तेरापंथी के मानस-पटल पर केवल अंकित ही नहीं होना चाहिए, उनके आचार और व्यवहार में भी स्पष्ट परिलक्षित होना चाहिए। ऐसा होने पर ही तेरापंथ धर्मसंघ सदा अक्षुण्ण और गतिशील बना रह सकता है।

दशवैकालिक सूत्र का एक प्रसंग है। शिष्य ने पूछा—'भंते! आपदा किस का वरण करती है और संपदा किसे उपलब्ध होती है?' आचार्य ने उत्तर दिया—'आपदा उसका वरण करती है, जो अविनीत होता है और संपदा उसे उपलब्ध होती है, जो विनीत होता है।' फिर प्रश्न हुआ—'अविनीत कौन है और विनीत कौन है?' आचार्य ने उत्तर दिया—'जो गुरु के अनुशासन को शिरोधार्य नहीं करता, वह अविनीत है और जो उसे शिरोधार्य करता है, वह विनीत होता है।' अनुशासन और विनय की धारा के आधार पर धर्मसंघों ने बहुत विकास किया। इतिहास की समीक्षा के द्वारा यह हम जान सकते हैं। विकास की उसी शृंखला की एक कड़ी है—तेरापंथ। ●

का प्रवाह ज्ञानकेंद्र तक पहुंचता है, तब वासनाओं का जाल अपने-आप टूटने लगता है।

मुद्रा और उसका प्रवाह

दो मुद्राएं महत्त्वपूर्ण हैं। एक है योगमुद्रा और दूसरी है जिनमुद्रा।

जयाचार्यश्री ने लिखा है—'प्रभो! आपकी योग-मुद्रा मुझे अच्छी लगती है। आपकी ध्यान-मुद्रा बड़ी मनोहारी है।'

मुद्राएं अनेक प्रकार की होती हैं—जिनमुद्रा, योगमुद्रा आदि-आदि। मुद्रा का बहुत महत्त्व है। हमारे शरीर के भीतर सूक्ष्म भावों का प्रवाह चल रहा है। वह जब शरीर के माध्यम से प्रकट होता है, तब वह मुद्रा बन जाता है। तर्जनी अंगुली को अंगूठे के मूल में लगाने से ज्ञानमुद्रा बन जाती है। अंगूठे को तथा अंगुलियों को कान, आंख, नाक, मुंह पर लगाने से सर्वेंद्रिय संयममुद्रा बन जाती है। जब मुद्राएं बनती हैं, तब आंतरिक परिवर्तन शुरू हो जाता है। जैसी बाहर की मुद्रा होती है, वैसा ही परिवर्तन होने लग जाता है। यों भी कहा जा सकता है कि जब कभी भीतरी परिवर्तन प्रारंभ होता है, तब बाहर की मुद्रा वैसी ही बन जाती है। दोनों में बहुत गहरा संबंध है। भीतर में चित्त की वृत्तियां जैसी होती हैं, बाहर भी वैसी ही अभिव्यक्ति होती है और बाहर में जैसी मुद्रा बनती है, भीतर में वही होने लग जाता है।

तीर्थंकर खड़े-खड़े ध्यान करते हैं। उनकी दोनों एड़ियां सटी हुई, चार-पांच अंगुल के अंतराल में रहती हैं। दोनों हाथ नीचे लटकते हुए तथा शरीर की जांघों से सटे हुए होते हैं। शरीर सीधा, गर्दन सीधी और नासाग्र पर दृष्टि टिकी हुई होती है। यह है जिनमुद्रा।

पद्मासन, स्वस्तिकासन या अर्द्धपद्मासन में व्यक्ति बैठा है। उसकी दृष्टि—भृकुटी या नासाग्र पर टिकी हुई है। दोनों हाथ गोद में हैं। बायां हाथ नीचे और दायां हाथ ऊपर है। यह योगमुद्रा है।

इस प्रकार की मुद्राएं बनते ही ध्यान उतरने लगता है। एकाग्रता का अवतरण प्रारंभ हो जाता है। चित्त की वृत्तियां बदलने लगती हैं और साधक ध्यान की गहराइयों में प्रवेश करने लग जाता है।

योग के आचार्यों ने मुद्राओं और आसनों का बहुत विकास किया। आज सैकड़ों मुद्राएं और आसन उपलब्ध हैं। उन मुद्राओं और आसनों का प्रयोग करने पर अपने-आप में परिवर्तन होने लग जाता है।

कोई व्यक्ति सिर पर हाथ रख कर, उदास होकर बैठता है तो उस मुद्रा में उदासी और चिंता उतर आएगी। वह अकस्मात् चिंतित हो जाएगा। कोई व्यक्ति प्रसन्न मुद्रा में बैठता है तो भीतर भी प्रसन्नता का भाव उतरता है और वह अभिव्यक्त हो जाता है।

यदि हम सचमुच बदलना चाहें तो हमारे सामने आत्मानुशासन को जगाने की बहुत सुंदर प्रक्रिया है। प्रश्न है कि बदलने की यथार्थ चाह हो, आत्मानुशासन को जगाने की यथार्थ भावना हो।

आत्मानुशासन की संहिता

जब तक बदलने की आकांक्षा नहीं जागती, तब तक आत्मानुशासन नहीं जागता। अध्यात्म के क्षेत्र में, धर्म के क्षेत्र में यह एक बहुत बड़ी चिंता है कि आज आत्मानुशासन का जागरण नहीं हो रहा है। आज विधान के जगत में जितनी बड़ी आचार-संहिता और दंड-संहिता है, संभव है कि धार्मिक जगत में भी उतनी ही बड़ी आचार-संहिता और दंड संहिता हो। तब प्रश्न होता है कि क्या धर्म का काम वही है, जो एक राज्य का, सत्ता का और न्यायालय का काम है? व्यक्ति गलतियां करता चला जाए और दंड-संहिता का प्रयोग होता चला जाए। अगर यही कार्य है, तो धर्म की कोई अतिरिक्त आवश्यकता नहीं रहती। धर्म का कोई अतिरिक्त काम नहीं रहता।

धर्म के क्षेत्र में एक अतिरिक्त घटना घटित हुई थी। एक ऐसी संहिता का निर्माण हुआ, जिससे आत्मानुशासन की संहिता का विकास हुआ। शरीर को अनुशासित करने की संहिता, प्राण और मन को अनुशासित करने की संहिता, वचन को अनुशासित करने की संहिता का विकास हुआ।

जयाचार्यश्री ने लिखा है—प्रभो! आपने तन, मन और वचन—सबको वश में कर लिया। आपका सब पर अनुशासन स्थापित हो गया।

जिस व्यक्ति का शरीर, प्राण, मन और वचन अनुशासित हो जाता है, वही व्यक्ति सही अर्थ में आत्मानुशासित होता है। आत्मानुशासन कोई अमूर्त शब्द नहीं है। आत्मानुशासन कोई ऐसा शब्द नहीं है, जो अव्याकृत या अवक्तव्य हो। उसकी व्याख्या दी जा सकती

है। उसकी स्पष्ट व्याख्या प्राप्त है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

कायक्लेश का सही अर्थ

एक व्यक्ति एक ही आसन पर घंटा भर नहीं बैठ सकता। इसका अर्थ है कि शरीर पर उसका अनुशासन नहीं है। भगवान महावीर ने कायक्लेश का प्रतिपादन किया है। इसका गलत अर्थ समझ लिया गया कि कायक्लेश का अर्थ है—काया को कष्ट देना। कायक्लेश का अर्थ शरीर को कष्ट देना नहीं है। इसका यथार्थ अर्थ है—शरीर को अनुशासित करना। शरीर को इतना साध लेना कि दस घंटे खड़ा रहा जा सके, बैठा जा सके। भगवान महावीर का शरीर पर इतना अनुशासन था कि वे सोलह-सोलह दिन-रात खड़े-खड़े ध्यान कर लेते थे। शरीर पर अनुशासन करने के अनेक सूत्र उनको प्राप्त थे। इसलिए वे ऐसा कर सके, अन्यथा ऐसा संभव नहीं था। भगवान ऋषभ ने भी एक वर्ष तक खड़े-खड़े कायोत्सर्ग किया।

भगवान बाहुबली ने लंबे समय तक कायोत्सर्ग किया। कहा जाता है कि समय इतना लंबा बीता कि बाहुबली के शरीर पर वल्लरियां चढ़ गईं। पक्षियों ने घोंसले बना लिए। सांपों ने बिल खोद डाले। वे वनस्पति जगत से घिर गए। प्रश्न हो सकता है—क्या यह संभव है? यह संभव तभी है, जब शरीर पर अनुशासन स्थापित हो जाता है। जब तक शरीर पर अनुशासन स्थापित नहीं होता तब तक यह असंभव ही बना रहता है।

मनुष्य ही यात्रा नहीं करता, शब्द और अर्थ भी यात्रा करते हैं। कायक्लेश का मूल अर्थ है शरीर को अनुशासित करना। यह मूल अर्थ काल की लंबी अवधि में विस्मृत हो गया और इसका अर्थ काया को कष्ट देना प्रचलित हो गया। इसके आधार पर यह धारणा बन गई कि जैन धर्म कष्ट देने वाला धर्म है। वह कहता है शरीर को सताओ, शरीर को तपाओ, शरीर को कष्ट दो। कितनी भ्रांत धारणा? यथार्थ में कायक्लेश है—शरीर के अनुशासन की प्रक्रिया।

जैन दर्शन में एक तप का नाम है—प्रतिसंलीनता। यह इंद्रिय अनुशासन की प्रक्रिया है। विनय आंतरिक तप का एक भेद है। यह अहंकार की ग्रंथि को तोड़ने की प्रक्रिया है। जब इन सारी प्रक्रियाओं की विस्मृति हो गई, तो इनके अर्थ भी बदल गए।

अतिचेतना का जागरण

आज समूचे संसार में एक नया स्वर उठ रहा है। वह इसलिए उठ रहा है कि बाहरी नियंत्रणों के द्वारा मनुष्य की चेतना विकसित नहीं हुई, अतिचेतना का जागरण नहीं हुआ। आज प्रत्येक समझदार व्यक्ति यह अनुभव करता है कि जब तक अतिचेतना का जागरण नहीं होगा, तब तक समस्याओं का समाधान नहीं होगा, तब तक द्वंद्वों का निबटारा नहीं होगा।

अतिचेतना को जाग्रत करने के लिए लंबी अवधि से प्रयोग हो रहे हैं। महर्षि अरविंद ने समूचे संसार में अतिचेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया। अनेक योगियों ने भी वह प्रयत्न किए। आज वे प्रयोग विज्ञान जगत में उतर गए हैं। वैचारिक परिवर्तन करने में आज के वैज्ञानिक बहुत सफल हो रहे हैं। मस्तिष्क में विद्युतीय प्रहार देकर विचार बदले जा सकते हैं। आज का वैज्ञानिक अतीत की स्मृति को जगाने में सफल हो गया है। विद्युत के प्रयोगों से पचास-सौ वर्ष पूर्व घटित घटना की ऐसी स्मृति करा दी जाती है, मानो कि वह अभी-अभी सामने घटित हो रही है।

उपादान का जागरण

जब तक भीतर की चेतना नहीं बदलती, भीतर का अनुशासन नहीं जागता, तब तक बाहरी परिस्थिति व्यक्ति को बार-बार सताती रहती है। वह व्यक्ति को दबोचती रहती है। भगवान की स्तुति, तीर्थंकर की आराधना, अध्यात्म की अनुभूति इन सबका अर्थ है—चेतना का परिवर्तन। जो चेतना अपने-आप अनुशासित नहीं होती, उस चेतना को आसनों, मुद्राओं और श्वास के विभिन्न प्रयोगों द्वारा बदला जा सकता है। प्रतिसंलीनता और मनोविकास के सूत्रों के द्वारा चेतना में परिवर्तन घटित हो सकता है।

भगवान का एक बहुत मूल्यवान वाक्य है—**अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे**—अग्र और मूल का छेदन करो। केवल पत्तों को मत काटो। उनको काटने से काम नहीं होगा। मूल को पकड़ो। मूल तक जाओ। उपादान को बदलो। जब उपादान बदल जाता है तब पत्ते आदि सब व्यर्थ हो जाते हैं।

हम अध्यात्म की भाषा को समझें और उपादान को जगाने का अभ्यास करें। प्रेक्षाध्यान उपादान को जगाने का अभ्यास है। जो व्यक्ति प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया से गुजरता है, वह चेतना को जगाने वाले उपादान का विकास करता है। जिस दिन यह उपादान थोड़ा भी जाग जाता है, दृष्टि बदल जाती है—नया चिंतन और नई अनुभूतियां जाग जाती हैं। ❖

संस्कृत भाषा का अदुष्य-वैदुष्य : संदर्भ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

❁

❑ युवाचार्य महाश्रमण ❑

मुनि तुलसी ने कहा—'क्या तुम भी कभी संस्कृत पढ़ पाओगे?' एक दिन वह था, जब मुनि नथमलजी (वर्तमान में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी) को संस्कृत भाषा के अध्ययन में कठिनाई महसूस हो रही थी और एक वह दिन भी आया जब उन्होंने एक दिन में ही संस्कृत में—'एकाह्निक शतक' यानी एक सौ श्लोक रचे।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने समय-समय पर संस्कृत में वक्तव्य देने और आशुकाव्य का प्रयोग भी किया है। संस्कृत में धाराप्रवाह वक्तव्य देना एक बड़ी उपलब्धि मानी जाती है। आशुकविता की यह लब्धि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने प्राप्त की। यह उनके बौद्धिक व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण पृष्ठ है।

श्रुत की आराधना में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जिस तरह से अपने को नियोजित किया है, वह एक ओर अनुकरणीय है, तो दूसरी ओर श्लाघनीय। उन्होंने एक ओर जहां जैन आगम साहित्य का मंथन किया, वहीं दर्शन और न्याय आदि का भी गहन अध्ययन किया। इसी तरह संस्कृत भाषा का जैसा तलस्पर्शी अध्ययन आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने किया है और प्रज्ञा की जो स्फुरणा उनमें हुई है—वैसी स्फुरणा विरल है।

संस्कृत भाषा के अदुष्य-वैदुष्य के संदर्भ में एक घटना का प्रसंग जो आचार्यश्री महाप्रज्ञजी से जुड़ा है, वह द्रष्टव्य है—गुरुदेवश्री तुलसी का विक्रम संवत् 2005 का चातुर्मासिक प्रवास छापर में था। उसी वर्ष वाराणसी (काशी) में अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन का आयोजन था। भारत के संस्कृत भाषा के उच्च कोटि के विद्वान उसमें आमंत्रित थे। सम्मेलन के महामंत्री पंडित केदारनाथ शर्मा ने इस सारस्वत सम्मेलन की ओर से पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी की सेवा में आमंत्रण-पत्र भेजा। उस समय विद्वद्वर्य श्री छगनलाल शास्त्री आदर्श साहित्य संघ के शिविर कार्यालय में कार्यशील थे। वे मुनिश्री नथमलजी (वर्तमान में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी) द्वारा लिखित—'संस्कृतं भारतीया संस्कृतिश्च'—विषय पर शोधात्मक निबंध एवं मुनिश्री द्वारा ही संस्कृत में रचित कतिपय काव्यात्मक श्लोक लेकर वाराणसी गए। इस सम्मेलन के अध्यक्ष भारत के महान संस्कृत विशारद महामहोपाध्याय पंडित गिरधर चतुर्वेदी थे। इस महासम्मेलन के अंतर्गत निबंध वाचन का एक विशेष सत्र भी था। उसके संयोजक कवि तार्किक सार्वभौम पंडित महादेव शास्त्री थे। देशभर से प्राप्त निबंधों में से अति महत्त्वपूर्ण कतिपय निबंध इस सत्र में पढ़े जाने हेतु चयनित हुए। मुनिश्री नथमलजी का निबंध उसमें विशेष रूप से लिया गया। श्री छगनलाल शास्त्री ने उस सत्र में मुनिश्री के निबंध का वाचन किया। भाषा, शैली एवं वस्तु-निरूपण की दृष्टि से वह शोध

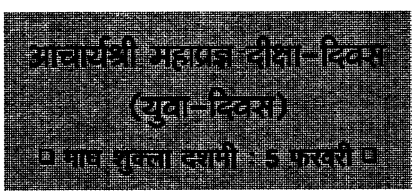

निबंध बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। समुपस्थित विद्वान उसे सुनकर अत्यंत प्रभावित हुए।

इसी महाधिवेशन में कवि-सम्मेलन का विशेष आयोजन भी हुआ।

भारत के दूरस्थ प्रदेशों से संस्कृत के कविगण सम्मेलन में संभागी थे। उन्होंने अपनी-अपनी काव्यकृतियां प्रस्तुत कीं। मुनिश्री की संस्कृत विषयक काव्यात्मक रचनाएं प्रस्तुत करने का अवसर भी प्रदान किया गया। उनकी रचनाओं में समस्यापूर्ति के कतिपय श्लोक थे। उनमें—**कासारे स्फुटिते जले प्रचलिते वालिः कथं बध्यते**—इस समस्या पद पर भी रचना थी। कुछ छंदोबद्ध एवं ललित लयात्मक गीतिकाएं थीं। श्री शास्त्रीजी ने उस सम्मेलन में सस्वर सम्यक् रूप से उनका प्रस्तुतीकरण किया। समुपस्थित विद्वज्जन और कविवृंद अत्यंत भावविभोर हो उठे। उन्होंने काव्यकृतियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। श्रोताओं में विशिष्ट विद्वान भी उपस्थित थे। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार मुनिश्री नथमलजी को ही दिया जाए। इस श्रेणी का और कोई विद्वान नहीं है।

श्री शास्त्रीजी ने मंचासीन विशिष्ट महानुभावों एवं समुपस्थित विद्वज्जनों को बड़ी विनम्रता के साथ निवेदन किया कि रचनाकार मुनिश्री नथमलजी पंच-महाव्रतधारी जैन संत हैं। तदनुसार वे मन, वचन, कर्म तथा कृत, कारित, अनुमोदितपूर्वक सर्वथा अपरिग्रही हैं। वे अपनी साधुचर्या के अनुसार किसी भी प्रकार की भेंट स्वीकार ही नहीं कर सकते। आप सबकी गुण-ग्राहकता के लिए मैं आप सबको साधुवाद देता हूं। इस पारितोषिक द्वारा किन्हीं और कवियों को पुरस्कृत किया जाए। इस प्रसंग से प्रायः सभी श्रोताओं पर जैन साधुओं की अत्यंत त्याग व तितिक्षामयी चर्या का बहुत ही प्रभाव पड़ा।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने मुनि जीवन के प्रारंभिक वर्षों में ही अनेक ग्रंथ कंठस्थ कर लिए थे। उनमें से संस्कृत भाषा के ग्रंथों की प्राप्त सूची इस प्रकार है—

- भक्तामर स्तोत्र
- सिद्धांत चंद्रिका
- कल्याणमंदिर स्तोत्र
- हेमशब्दानुशासनम् का आठवां अध्याय
- सिंदूरप्रकर (सूक्तिमुक्तावली)
- कालु कौमुदी
- शांतसुधारस भावना
- जैन सिद्धांत दीपिका
- रत्नाकर पंचविंशिका
- श्री भिक्षु शब्दानुशासनम् के सूत्र
- नीतिशतकम्
- अभिधान चिंतामणि
- अन्ययोगव्यवच्छेदिका
- प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार
- अयोगव्यवच्छेदिका
- षडदर्शन समुच्चय
- लिंगानुशासनम्
- तत्त्वार्थाधिगम सूत्र
- धातुपाठ
- वृहत-संग्रहणी

हालांकि आज का बौद्धिक मानस कंठस्थ ज्ञान को महत्त्वपूर्ण मानता है या नहीं—यह अलग बात है। परंतु, मेरी दृष्टि में कंठस्थ ज्ञान का अपना विशिष्ट मूल्य है। प्राचीन कहावत भी है—'ज्ञान कंठां, दाम अंटां'—यानी ज्ञान वही है, जो कंठस्थ होता है और पैसे वे ही काम के हैं, जो अंटी में होते हैं। पास में जो पैसे होते हैं, वे तत्काल काम आ सकते हैं और जो ज्ञान कंठस्थ होता है, वह कहीं भी और कभी भी काम आ सकता है।

एक बार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कालु कौमुदी का अध्ययन कर रहे थे। संस्कृत व्याकरण का यह नियम है कि शब्द के आगे—'सि'—आदि विभक्तियां और धातु के आगे—'ति'—आदि विभक्तियां लगती हैं। मुनि तुलसी उनको साधनिका करा रहे थे। उन्होंने बताया—'जिन'—एक शब्द है, उसमें प्रथमा विभक्ति के एकवचन में—'सि'—प्रत्यय का योग करने पर जिनः शब्द बनता है। मुनि नथमलजी ने तत्काल प्रश्न किया कि जिन शब्द के आगे 'सि' प्रत्यय ही क्यों जोड़ा गया, 'ति' प्रत्यय क्यों नहीं जोड़ सकते? तब मुनि तुलसी ने कहा—'क्या तुम भी कभी संस्कृत पढ़ पाओगे?' एक दिन वह था, जब मुनि नथमलजी (वर्तमान में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी) को संस्कृत भाषा के अध्ययन में कठिनाई महसूस हो रही थी और एक वह दिन भी आया जब उन्होंने एक दिन में ही संस्कृत में—'एकाह्निक शतक' यानी एक सौ श्लोक रचे।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने समय-समय पर संस्कृत में वक्तव्य देने और आशुकाव्य का प्रयोग भी किया है। संस्कृत

में धाराप्रवाह वक्तव्य देना एक बड़ी उपलब्धि मानी जाती है। आशुकविता की यह लब्धि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने प्राप्त की। यह उनके बौद्धिक व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण पृष्ठ है।

सन् 1955 में गुरुदेवश्री तुलसी का प्रवास पुणे में था। गीर्वाण वाग्वर्द्धिनी सभा के आनंदाश्रम में कार्यक्रम आयोजित था। गुरुदेवश्री तुलसी को भी उसमें आमंत्रित किया गया था। कार्यक्रम के दौरान आशुकाव्य का प्रसंग उपस्थित हुआ। एस. पी. कालेज के अवकाश प्राप्त संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. के. एन. वाटवे ने स्रग्धरा छंद में 'घड़ी'—विषय पर आशुकाव्य करने का अनुरोध करते हुए एक श्लोक कहा—

समयज्ञापकं नित्यं, नव्यानां हस्तभूषणम्।
स्रग्धरावृत्तमालम्ब्य, घटीयन्त्रं हि वर्ण्यताम्।।

जो सदा समय बताती है, जो नौजवानों के हाथ का आभूषण बनी हुई है, उस घड़ी का स्रग्धरा छंद में वर्णन करें।

स्रग्धरा छंद में आशुकविता करना काफी कठिन होता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए पार्श्व में विराजमान गुरुदेवश्री तुलसी ने मुनिश्री नथमलजी (आचार्यश्री महाप्रज्ञजी) से कहा—'देख लो, यदि कठिन लगे तो उन्हें छंद बदलने का कह दें।' तब उन्होंने उत्तर दिया—'गुरुदेव! आपकी कृपा से सब ठीक होगा।' और उन्होंने तत्काल घड़ी के बारे में चार श्लोक बनाकर सुना दिए। उनमें दो श्लोक इस प्रकार हैं—

यद्वा ज्ञातं पुराणैर्निखिल ऋषिवरैर्व्योमवीक्ष्यापि कालः,
ज्ञाता तज्ज्ञायते वा प्रकृतिविवशता साम्प्रतं वर्धमाना।
स्वातन्त्र्यस्य प्रणादो बहुजनमुसगः किन्तु तो कार्यरूपे,
हस्ते बध्वा घटीस्ता भवति च मनुजश्चित्रमासामधीनः।।

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने आकाश को देख कर काल का ज्ञान किया था। किंतु आज प्रकृति के प्रति बढ़ती हुई विवशता स्वयं ज्ञात है, या ज्ञात हो रही है। वर्तमान में स्वतंत्रता का स्वर जन-जन के मुख पर है, किंतु वह कार्यरूप में परिणत नहीं है। आश्चर्य है कि मनुष्य हाथ पर घड़ी बांध कर उसके अधीन हो रहा है।

चक्षुर्यद् वान्तरालं स्फुरितमपि भवेत्तन्न यन्त्रस्य चेष्टा,
विज्ञाः पश्यन्तु सर्वे वयमिह मुनयः कस्य हस्तेऽस्तियन्त्रम्?
चक्षुष्मानत्र बुद्धो भरतजनपदे स्वात्मना एवं प्रपश्येत्,
बाह्ये दृष्टिं वितन्वन् बहिरपि सुदृश! स्यात्पराधीनचेताः।।

अंतराल का चक्षु खुल जाता है, वह किसी यंत्र की चेष्टा नहीं मानी जाती। यह देखा जाना चाहिए कि मुनियों के हाथ में कौनसा यंत्र है? भारत में उसे ही चक्षुष्मान माना गया है जो अपनी आत्मा से अपने-आप को देखता है। बाहर की ओर झांकने वाले का चित्त, बाह्य वस्तुओं के अधीन हो जाता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने संस्कृत वाग्देवी की आराधना के जिस शिखर पर आरोहण किया है, तेरापंथ शासन के लिए संस्कृत विद्या की दृष्टि से यह अति गौरवास्पद प्रसंग है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अपने मुनि पर्याय के अठहत्तर वर्ष और आचार्य पर्याय के चौदह वर्ष संपन्न करने जा रहे हैं। यह संख्या आगे से आगे बढ़ती जाए, यही मंगलकामना। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

व्यक्तित्व सृजन : कुछ सूत्र

❁

❑ समणी मयंकप्रज्ञा ❑

सामान्यतया व्यक्ति अपनी, अपने कार्य की प्रशंसा ही सुनना चाहता है, समीक्षा या आलोचना नहीं। विकास के लिए आवश्यक है—व्यक्ति अपनी कमियों को भी जाने और उन्हें दूर करने का प्रयास करे। आजकल हमें कई जगह एक सूचना-पट्ट लिखा हुआ मिलता है—'सुझाव आमंत्रित हैं'—यह क्या है? इसके आधार पर वे अपनी सेवाएं अधिक बेहतरीन बनाने का प्रयास करते हैं। हमें मिलने वाले सुझावों पर हम भी गौर करें और उस अनुसार आचरण में परिवर्तन करें तो हम भी अपना बेहतरीन निर्माण कर सकते हैं। कुम्हार यदि पोले हाथों से किसी घड़े का निर्माण करता है तो वह ज्यादा टिकाऊ और उपयोगी नहीं बन सकता। सही समय पर कुम्हार के हाथ की तेज चोट और तेज आंच से ही घड़ा पक्का बनता है। इसी प्रकार हम भी अपनी आलोचना एवं समीक्षाओं से बिना घबराए अपेक्षानुसार स्वयं में परिष्कार कर अपने-आप को अधिक उपयोगी और सार्थक सिद्ध कर सकते हैं। हमारा भव्य निर्माण इसी से संभव है।

आगम ग्रंथों में श्रावक के लिए 'अगार' शब्द का प्रयोग मिलता है। अग (लकड़ी) के घरों में रहने के कारण वह 'अगारी' कहलाता था। समय के साथ मानवीय मस्तिष्क ने हर चीज में परिवर्तन किया है। विकास की दहलीज पर बढ़े हर कदम ने निर्माण की नई दिशाएं खोली हैं। लकड़ी के उन घरों का स्थान भी अब गगनचुंबी इमारतों ने ले लिया है। इन आलीशान इमारतों के निर्माण में अथक समय, श्रम और अर्थ आदि का योगदान है। इस कार्य को कठिन कहा जा सकता है। पर, शायद उससे भी कठिन है इन भव्य इमारतों के भीतर रहने वाले मनुष्य के भव्य निर्माण का कार्य। एक आदर्श एवं संतुलित व्यक्तित्व का सृजन आधुनिक युग की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि हो सकती है। ऐसे ही सृजन के कुछ सूत्र यहां प्रस्तुत हैं।

मनुष्य एक पंचेंद्रिय प्राणी है। पांच इंद्रियों एवं मन से मनुष्य के शरीर का निर्माण होता है। सृजन के सूत्रों की यदि इंद्रियों के साथ चर्चा की जाए तो तत्त्वज्ञान के परिप्रेक्ष्य में इसके छह बिंदु बनते हैं। ये बिंदु निम्नानुसार हैं—

कर्मजा हाथ एवं गतिशील कदम

व्यक्ति का शरीर, उसके अंगोपांग और उसकी त्वचा आदि स्पर्शनेंद्रिय हैं। शरीर के महत्त्वपूर्ण अवयव हैं—हाथ और पैर। इनके बिना व्यक्ति विकलांग कहलाता है। क्योंकि हमारी अधिकांश अभिव्यक्ति का माध्यम ये ही हैं। अतः सृजन का पहला सूत्र हाथों की कर्मजा-शक्ति और कदमों की गतिशीलता को माना जा सकता है।

कोरी कल्पना व्यक्ति के स्वप्न को कभी यथार्थता में परिणत नहीं कर सकती। स्वप्न को यथार्थता का रूप देती है—कर्मजा-शक्ति। व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार लक्ष्य-निर्धारण करे और अपनी संपूर्ण शक्ति को उसी दिशा में, उसी बिंदु पर केंद्रित कर दे तो शीघ्र ही मंजिल को प्राप्त कर सकता है। आज अपेक्षा है कि मनुष्य अपने दोनों हाथों की असीम शक्ति को जाने, पहचाने और अनुभव करे कि दुनिया का कोई ऐसा कार्य नहीं जो इन हाथों से संभव न हो। किसी ने ठीक ही कहा है—

अयं मे हस्तो भगवा, नयं मे भगवत्परः
अयं मे विश्व भेषजो, यं शिवाभिमर्शनः

अर्थात्, मेरे यह हाथ (हस्त-रत्न) ईश्वर स्वरूप हैं। मेरा इष्ट इसी से संभव है। विश्व का सर्वश्रेष्ठ भेषज (औषध) यही है और इसी से शिव (मोक्षपथ) की प्राप्ति करना संभव है।

फलतः कर्मजा-शक्ति एक ऐसा स्रोत है जिससे व्यक्ति न केवल स्वयं अपना, अपितु समाज का भी स्वस्थ निर्माण कर सकता है।

कदमों की गतिशीलता को भी विकास के लिए आवश्यक अंग माना गया है। जहां रुकाव है, वहां ठहराव है और जहां गति है, वहां विकास की संभावना है। पैरों में रोड़े किसी भी व्यक्ति के जीवन में आ सकते हैं, पर दुनिया में फरिश्ता वही इनसान कहलाता है, जो उन रोड़ों को हटा कर एक राजमार्ग बना जाता है। इतना ही नहीं, गतिशील कदम एक मंजिल पर रुकते भी नहीं, आगे-से-आगे रास्ता बनाते हुए बढ़ते चले जाते हैं।

वाणी-संयम और आहार-संयम

आधुनिक युग '2 in 1' का है। हमारी रसनेंद्रिय के साथ भी ऐसा ही कुछ है। जिह्वा एक है और काम दो हैं। एक वाणी और दूसरा स्वाद। इस रसनेंद्रिय के साथ यदि संयम जुड़ जाता है तो श्रेष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण संभव हो सकता है।

वाणी-संयम साधना की प्रखर भूमिका है। वाणी-संयम के सारे सूत्र क्यों, कैसे, कितना, कहां और कब बोलना—में निहित हैं। उदाहरण के तौर पर हम युवाचार्यश्री महाश्रमणजी को देखें, ये सभी सूत्र उनके जीवन में प्रत्यक्ष फलित हैं। इन सूत्रों से आंतरिक साधना के साथ-साथ व्यक्ति का व्यावहारिक पथ भी प्रशस्त होता है। कर्कश, कठोर, अप्रिय तथा असत्य संभाषण करने वाले व्यक्ति को कहीं भी सम्मान प्राप्त नहीं होता। जबकि हित, प्रिय, मधुर तथा सत्य संभाषी व्यक्ति सर्वत्र आदरास्पद बन जाता है।

आहार भी हमारी चर्या का आवश्यक अंग है। रसनेंद्रिय के आधार पर आहार के स्वाद का निर्धारण होता है। जैसे—पदार्थ खट्टा है या मीठा, तीखा है या कड़वा आदि-आदि। साधारणतया व्यक्ति स्वाद के लिए खाता है, पर जब आहार के साथ संयम जुड़ जाता है तो व्यक्ति का नजरिया बदल जाता है। एक ही केंद्र के दो आयाम होने के कारण वाणी-संयम के ही सारे सूत्र आहार-संयम में भी लक्षित होने चाहिए। क्यों, कैसे, कितना, कहां और कब खाना—इन सभी सूत्रों को यदि व्यक्ति अपनी आहारचर्या का अंग बना ले तो वह आहारयोग को अनासक्त-योग की उच्च भूमिका तक ले जा सकता है।

विवेक

हमारा भामंडल संपूर्ण शरीर का नियामक है। नियंत्रण का कार्य यही करता है। गंध इस भामंडल को प्रभावित करती है। व्यक्ति घ्राणेंद्रिय के द्वारा गंध (सुगंध एवं दुर्गंध) का ज्ञान करता है। व्यावहारिक स्तर पर कर्तव्यरूपी सुगंध और अकर्तव्यरूपी दुर्गंध का निर्धारण करने के लिए मनुष्य में विवेकरूपी नासिका का होना अनिवार्य है।

जिस प्रकार हंस अपनी चोंच की अम्लता से दूध और पानी को पृथक कर सकता है, उसी प्रकार मनुष्य की विवेकचेतना करणीय और अकरणीय को स्पष्ट कर सकती है।

गांव में एक बाबाजी थे। बहुत ज्ञानी, अनुभवी एवं व्यवहार-कुशल। एक शिष्य उनकी सेवा में रहता था। गांव के भोले लोग अपनी हर समस्या के समाधान के लिए बाबाजी के पास आते। एक बार एक आदमी का बेटा कुएं में गिर गया। वह बाबाजी के पास आया। बाबाजी ने बताया एक मोटा रज्जू नीचे डाल कर उसे खींच लो। ऐसा ही किया गया और बेटा ऊपर आ गया। सभी खुश हो गए। कुछ दिनों पश्चात् बाबाजी का देहावसान हो गया। एक बार एक व्यक्ति का बेटा खेल-खेल में खजूर के पेड़ पर चढ़ गया। अब उतरना मुश्किल हो गया। ग्रामवासी बाबाजी के शिष्य के पास गए। शिष्य ने कहा—एक मोटा रज्जू ऊपर फेंक दो, फिर नीचे खींच लेना। ग्रामवासियों ने वैसा ही किया। रज्जू खींचते ही बालक धड़ाम से गिरा, तत्क्षण उसकी मृत्यु हो गई। तात्पर्य यह कि हर समस्या का समाधान एक नहीं हो सकता। अतः व्यक्ति में विवेकरूपी घ्राणेंद्रिय का होना आवश्यक है।

स्वप्नदर्शिता

सृजन का चौथा सूत्र है—हमारी चक्षुरिंद्रिय में, हमारी आंखों में स्वप्नदर्शिता हो।

सृष्टि के भाल पर नवीन स्वस्तिक वही व्यक्ति उकेर सकता है, जिसकी आंखों में स्वप्नदर्शिता हो। स्वप्नदर्शी आंखें ही इस सृष्टि को सुरम्य बना सकती हैं, उसे कलात्मक रूप प्रदान कर सकती हैं तथा विकास के नवीन

द्वार उद्घाटित कर सकती हैं। उन स्वप्नदर्शी व्यक्तियों के प्रति यह विश्व प्रणत है, हो सकता है, जिनकी बदौलत मानव ने आदिमानव से लेकर विकास के शिखरपुरुष तक की यात्रा संपन्न की है। गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी स्वप्नद्रष्टा थे। वे बहुधा कहते—'खुली आंखों से स्वप्न देखना सीखो।' इस स्वप्नदर्शिता के कारण ही उन्होंने इस युग को प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान, अणुव्रत, नया मोड़, समणश्रेणी और पारमार्थिक शिक्षण संस्था आदि—अनेक अवदान दिए। तेरापंथ धर्मसंघ के अभूतपूर्व विकास में आपकी स्वप्नदर्शी एवं दूरगामी दृष्टि ही सबसे बड़ा निमित्त थी। अतः सृजनशील व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह स्वप्नदर्शी बने।

समीक्षातुरता

श्रवण का माध्यम है—श्रोत्रेंद्रिय। सृजन के लिए आवश्यक सूत्र है—सुनने की क्षमता के साथ-साथ स्वयं की समीक्षा-आलोचना को सुनने की क्षमता का भी विकास हो।

सामान्यतया व्यक्ति अपनी, अपने कार्य की प्रशंसा ही सुनना चाहता है, समीक्षा या आलोचना नहीं। विकास के लिए आवश्यक है—व्यक्ति अपनी कमियों को भी जाने और उन्हें दूर करने का प्रयास करे। आजकल हमें कई जगह एक सूचना-पट्ट लिखा हुआ मिलता है—'सुझाव आमंत्रित हैं'—यह क्या है? इसके आधार पर वे अपनी सेवाएं अधिक बेहतरीन बनाने का प्रयास करते हैं। हमें मिलने वाले सुझावों पर हम भी गौर करें और उस अनुसार आचरण में परिवर्तन करें तो हम भी अपना बेहतरीन निर्माण कर सकते हैं। कुम्हार यदि पोले हाथों से किसी घड़े का निर्माण करता है तो वह ज्यादा टिकाऊ और उपयोगी नहीं बन सकता। सही समय पर कुम्हार के हाथ की तेज चोट और तेज आंच से ही घड़ा पक्का बनता है। इसी प्रकार हम भी अपनी आलोचना एवं समीक्षाओं से बिना घबराए अपेक्षानुसार स्वयं में परिष्कार कर अपने-आप को अधिक उपयोगी और सार्थक सिद्ध कर सकते हैं। हमारा भव्य निर्माण इसी से संभव है।

संकल्प-शक्ति

सृजन का अंतिम सूत्र है—दृढ़ संकल्प-शक्ति का विकास करना। यह हमारी छठी इंद्रिय 'सिक्स्थ सेंस' के साथ जुड़ा हुआ है। मूलतः मन इंद्रिय नहीं है। इसे नोइंद्रिय और अनींद्रिय भी कहा जाता है। पर, सभी विषयों को ग्रहण करने के कारण इसे छठी इंद्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है।

दृढ़ संकल्प-शक्ति हर असंभव कार्य को संभव बनाती है। मुट्ठी भर हड्डी की काया वाले (महात्मा) गांधीजी ने अहिंसा से संपूर्ण भारतवर्ष को ब्रिटिश साम्राज्य के चंगुल से स्वतंत्र करा दिया। इसका कारण क्या था—उनकी दृढ़ संकल्प-शक्ति। जब किसी प्रशस्त कामना के साथ व्यक्ति का प्रबल संकल्प जुड़ता है, तब उसकी शक्ति शतगुणित हो जाती है और उसके सार्थक परिणाम हमारे सामने आते हैं। वही संकल्प-शक्ति जब अवांछनीय भावधारा के साथ काम करती है तो उसके विनष्टकारी परिणाम भी आते हैं। अतः सृजन के लिए आवश्यक है व्यक्ति का संकल्प प्रबल और विधायक बने।

सृजन के ये सभी सूत्र व्यक्ति की इंद्रियों से संबंधित हैं। यदि जीवनचर्या के साथ इन्हें जोड़ दिया जाए तो सृजन का स्वप्न हमें शीघ्र ही सार्थकता में परिणत होता हुआ दिखाई देगा और अपनी भावी पीढ़ी को आज के मनुष्य की यह सर्वश्रेष्ठ देन होगी। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

संतुलन के साधक आचार्यश्री महाप्रज्ञ

❁

❑ साध्वी विश्रुतविभा ❑

व्यक्तित्व विकास के लिए चिंतन आवश्यक है, किंतु अत्यधिक चिंतन मनोबल को क्षीण भी करता है और स्नायु संस्थान को कमजोर बनाता है। इसके विपरीत अचिंतन की स्थिति में शक्ति का विकास होता है, उसका अपेक्षित विस्फोट होता है। चिंतन के द्वारा वही जाना जा सकता है, जो हमारे जानने की सीमा में होता है। दूसरी ओर अचिंतन के द्वारा वे पदार्थ भी हमारे लिए दृश्यमान बन जाते हैं, जो दूर हैं, व्यवहृत व सूक्ष्म होते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी गंभीर चिंतन में विश्वास करते हैं, किंतु उसी के साथ अचिंतन के महत्त्व को भी अस्वीकार नहीं करते। उनका दृढ़ मंतव्य है—'वह चिंतन, जिसकी पृष्ठभूमि में अचिंतन की साधना नहीं है, बहुत समाधान दायक नहीं हो सकता। वही चिंतन प्राणवान बन पाता है, जो अचिंतन के मंत्र से अभिषिक्त होता है।'

शब्द जाने जातुमिच्छाम्यशब्दम्,
तर्कं जाने ज्ञातुमिच्छाम्यतर्क्यम्।
चिंतां जाने ज्ञातुमिच्छाम्यचिंत्यम्
हस्तालंबं देव! देहि प्रशस्तम्।।

शब्द को जानता हूं, अशब्द को जानना चाहता हूं। तर्क को जानता हूं, अतर्क्य को जानना चाहता हूं। चिंतन करना जानता हूं, अचिंत्य को जानना चाहता हूं। प्रभो! मुझे प्रशस्त आलंबन दो, जिससे मैं इस स्थिति तक पहुंच सकूं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा निर्मित उपरोक्त श्लोक उनकी अशब्द, अतर्क्य, अचिंत्य लोक की यात्रा का संकेत दे रहा है। साधना की इस उच्चतम स्थिति तक पहुंचना सरल नहीं है। वर्तमान युग प्रवृत्ति-बहुल युग है। मनुष्य का जीवन प्रवृत्ति प्रधान हो रहा है। प्रवृत्ति के मुख्य तीन स्रोत हैं—मन, वचन और शरीर।

पदाभिरोहण और दीक्षा दिवस विशेष

हमारा मन बहुत गतिशील है। वह निरंतर चिंतन में संलग्न रहता है। एक व्यक्ति को हवाई जहाज से लंदन पहुंचने में नौ घंटे लगते हैं, किंतु मन को वहां पहुंचने में एक सैकंड भी नहीं लगता। कभी हमारा मन स्मृति के पंखों पर उड़ कर अतीत का साक्षात्कार करता है, तो कभी वह भविष्य के 'कैनवास' पर सुनहरे सपनों का दर्शन करता है, परंतु वर्तमान में जीने का उसका अभ्यास शून्य सरीखा है। आश्चर्य तो तब होता है जब उस शून्यकाल में भी मानसिक क्रियाएं जारी रहती हैं।

मनुष्य को खाली रहने का अभ्यास ही नहीं है। उसके मस्तिष्क के 'न्यूरोंस' सक्रिय रहते हैं। वह अनवरत आवश्यक-अनावश्यक कुछ-न-कुछ सोचता रहता है। अनावश्यक चिंतन के कारण वह कभी गलत निर्णय भी ले लेता है। अनावश्यक चिंतन व्यक्ति के भावों को दूषित करता है। मन को मलिन बनाता है और मानसिक तनाव को

जन्म देता है। अवसाद, आत्महीनता जैसे मानसिक विकारों को चाहे-अनचाहे निमंत्रित करता है।

व्यक्तित्व विकास के लिए चिंतन आवश्यक है, किंतु अत्यधिक चिंतन मनोबल को क्षीण भी करता है और स्नायु-संस्थान को कमजोर बनाता है। इसके विपरीत अचिंतन की स्थिति में शक्ति का विकास होता है, उसका अपेक्षित विस्फोट होता है। चिंतन के द्वारा वही जाना जा सकता है, जो हमारे जानने की सीमा में होता है। दूसरी ओर अचिंतन के द्वारा वे पदार्थ भी हमारे लिए दृश्यमान बन जाते हैं, जो दूर हैं, व्यवहृत व सूक्ष्म होते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी गंभीर चिंतन में विश्वास करते हैं, किंतु उसी के साथ अचिंतन के महत्त्व को भी अस्वीकार नहीं करते। उनका दृढ़ मंतव्य है—'वह चिंतन, जिसकी पृष्ठभूमि में अचिंतन की साधना नहीं है, बहुत समाधानदायक नहीं हो सकता। वही चिंतन प्राणवान बन पाता है, जो अचिंतन के मंत्र से अभिषिक्त होता है।' गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी की सन्निधि में प्रायः गंभीर विषयों पर चिंतन चलता रहता था। पर्याप्त चिंतन-मंथन के बाद भी जब निष्कर्ष सामने नहीं आता, तब आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को गुरुदेव फरमाते कि अब चिंतन करने का समय पूरा हो गया, तुम अपने अचिंतन से समाधान खोजकर लाओ। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी विषय को अवचेतन मन तक पहुंचा देते और वहां से अनायास ही समाधान प्राप्त हो जाता।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अचिंतन की स्थिति में रहते हैं। इसलिए वे स्थितप्रज्ञ हैं, आत्मस्थ हैं। यही वजह है कि बाह्य शब्द, बाह्य रूप, बाह्य गंध, बाह्य रस और बाह्य स्पर्श आपकी चेतना को छू नहीं पाते। अचिंतन के क्षणों में आप चेतना के उस अंतर्लोक तक पहुंच जाते हैं जहां बाह्य स्थितियों की, सतही तत्त्वों की कोई अनुभूति नहीं होती।

प्रवृत्ति का दूसरा स्रोत है वाणी। दूसरों के साथ संपर्क साधने के लिए भाषा का प्रयोग होता है। इसीलिए पूज्यपाद ने 'इष्टोपदेश' में लिखा—**जनेभ्यो वाक्।** पशुओं में भाषा का पर्याप्त विकास नहीं है, उनके शब्दकोश में बहुत कम शब्द हैं। अधिक वाक् प्रयोग से मस्तिष्कीय शक्तियों का क्षरण होता है। जो व्यक्ति बहुत तेज बोलता है, उसका मस्तिष्क सृजनात्मक कार्य नहीं कर सकता। जो दिन-भर बोलता रहता है, उसकी कर्मजा-शक्ति दुर्बल हो जाती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी न अधिक बोलते हैं, न तेज बोलते हैं और न दिन-भर बोलते हैं। इसीलिए उनका मस्तिष्क प्रतिक्षण क्रियाशील रहता है।

एक बार पंजाब से एक युवक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के दर्शनार्थ आया। कक्ष के बाहर कार्यकर्ता को युवक ने बताया—'मेरे मन में कुछ जिज्ञासाएं हैं, कुछ समस्याएं हैं, आचार्यश्री से परामर्श लेने आया हूं।' कार्यकर्ता बोला—'चलो, मैं आपको आचार्यश्री से मिला देता हूं।

वह युवक कार्यकर्ता के साथ कक्ष के भीतर गया। कार्यकर्ता ने उसका परिचय दिया और मिलने का आशय बताया। वह युवक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सम्मुख बैठ गया। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी बोले—'आपके क्या प्रश्न हैं, बताओ? क्या जिज्ञासाएं लेकर आए हो?' वह अपलक नेत्रों से आचार्यप्रवर की ओर निहारता रहा। उस के सारे प्रश्न तिरोहित हो गए। एक सूक्त याद आता है—

गुरोस्तु मौन आख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का स्पष्ट चिंतन है कि वाणी का अधिक प्रयोग अंतर-दर्शन में बाधक है। वे स्वयं लिखते हैं—'जहां भाषा का प्रयोग होता है, वहां चंचलता पैदा होती है। हम बोलते हैं तो सबसे पहले मन को चंचल करना पड़ता है। मन को चंचल किए बिना कोई आदमी बोल नहीं सकता। क्योंकि जो-कुछ वह कहना चाहता है, पहले वह सोचता है, फिर बोलता है। बोलने का अर्थ है—पहले मन को चंचल करो, फिर बोलो। बोलने से पहले भी चंचलता और बोलने के बाद भी चंचलता। बोलना स्वयं ही चंचलता है। यह व्यवहार अंतर्ज्ञान में बाधा उपस्थित करता है। जो अंतर्द्रष्टा हुए हैं, उन्होंने अत्यल्प भाषा का प्रयोग किया है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का वाक् भी बहुत सीमित है। भाषा वर्गणा के स्वल्प पुद्गलों का उपयोग करते हैं। साधनापूर्वक अल्प शब्दों का प्रयोग करने वाला व्यक्ति अनेक सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी 'वचन-गुप्ति' का प्रयोग कर रहे हैं, इसीलिए उनकी वाणी स्वयंसिद्ध हो रही है। 'तुलसी अष्टकम्' का यह सूक्त—'स्वयं सिद्धा वाणी सहज-मतिमानाप्तपुरुषः'—आपके जीवन में स्पष्ट चरितार्थ होता हुआ देखा जा सकता है। बोलने का क्या मूल्य है—यह तो सब जानते हैं, पर न बोलने का मूल्य क्या है—इसे आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के व्यक्तित्व से सीखा जा सकता है।

प्रवृत्ति का तीसरा स्रोत है—शरीर। शरीर की प्रवृत्ति भी अनवरत चलती रहती है। कुछ होने के लिए अथवा कुछ पाने के लिए उसका प्रयत्न जरूरी है। इसीलिए प्रात:काल से लेकर रात्रि शयन तक शारीरिक क्रियाओं का सिलसिला चालू रहता है। अत्यधिक क्रियाशीलता शरीर में 'लैक्टिक-एसिड' का निर्माण करती है, जिससे शरीर में थकान, आलस्य. सुस्ती आदि का एहसास होता है। सतत क्रियाशीलता तनाव भी पैदा करती है तथा अनेक समस्याओं को भी जन्म देती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी महज पुरुषार्थ का जीवन जीते हैं। उनके पुरुषार्थी व्यक्तित्व में ही उनकी क्रियाशीलता का रहस्य छिपा है। उनकी क्रियाशीलता कभी समस्या नहीं बनी। उनके स्वास्थ्य, प्रसन्नता और कर्मजा-शक्ति को उसने कभी प्रभावित नहीं किया। इसका रहस्य-सूत्र है—हर क्रिया के बाद वे अक्रिया की साधना भी करते हैं।

मन और वचन की अति प्रवृत्ति मस्तिष्क में थकान पैदा करती है, वहीं शरीर की अति प्रवृत्ति शारीरिक दुर्बलता को बढ़ाती है। फिर प्रश्न होता है—क्या आदमी को प्रवृत्ति का निरोध करना चाहिए? पर, क्या यह संभव है? जीवन को सुव्यवस्थित चलाने के लिए प्रवृत्ति तो जरूरी है, उसका निरोध नहीं किया जा सकता। लेकिन प्रवृत्ति और निवृत्ति में संतुलन स्थापित किया जा सकता है और यह करना ही होगा। इनका संतुलन बिगड़ते ही समस्याएं उत्पन्न होती हैं। अनेक लोग प्रवृत्ति में विश्वास करते हैं। जबकि सचाई यह है कि निवृत्ति रहित प्रवृत्ति से व्यक्तित्व का संतुलित विकास नहीं हो पाता। एक व्यक्ति बोलते समय अनेक छोटी-मोटी मांसपेशियों का उपयोग करता है। एक श्रमिक की तुलना में वह बहुत अधिक ऊर्जा का व्यय करता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ऊर्जा के क्षरण के प्रति पूर्ण जागरूक हैं। सीमित शब्दों में अपने चिंतन को प्रस्तुत करने में वे दक्ष हैं। नब्बे वसंत पार कर चुके आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का स्वरयंत्र आज भी प्राणवान है।

प्रवृत्ति की क्षमता होने पर भी प्रवृत्ति नहीं करना तथा भाषा और चिंतन के होते हुए भी उसका स्वल्प प्रयोग करना विकास का पहला चरण है। जो व्यक्ति अपने चैतन्य की अनुभूति करना चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि वह प्रवृत्ति में भी निवृत्ति का अनुभव करे। मन का अस्तित्व होने पर भी 'अमन' का और वाक् होते हुए भी 'अवाक्' का प्रयोग करे। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति, मन के साथ अमन एवं वाक् के साथ अवाक् का अनुभव करते हैं। इस अनुभूति तक वे ही महापुरुष पहुंच सकते हैं, जो श्रम के साथ विश्राम के महत्त्व को समझते हैं।

आज का आदमी विश्राम करना नहीं जानता। नींद विश्राम है, किंतु उससे केवल स्थूल अवयवों को ही विश्राम मिलता है। कोशिकाओं, श्वसन-तंत्र और मस्तिष्क को नहीं। सही अर्थ में विश्राम तब होता है, जब स्थूल अवयव ही नहीं, शरीर की एक-एक कोशिका सो जाए। ध्यान अथवा कायोत्सर्ग के द्वारा इस स्थिति का निर्माण किया जा सकता है। विश्राम का अर्थ है मन को खाली करना, हलका करना। विश्राम का अर्थ यह नहीं है कि कार्य न करें। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी मन को खाली करना जानते हैं, विश्राम देना जानते हैं। यही वजह है कि आपकी साधना सिद्धि के द्वार पर दस्तक दे रही है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण घटक है—प्रवृत्ति और निवृत्ति, वाक् और मौन, विचार और निर्विचार का संतुलन। अनेक लोग सोचते हैं कि यदि हम प्रवृत्ति नहीं करेंगे, वाणी का प्रयोग नहीं करेंगे, चिंतन नहीं करेंगे तो हमारी शक्तियां कुंठित हो जाएगी, उनके जंग लग जाएगा। इस कथन में सचाई है, किंतु अधूरी। समग्र सचाई यह है कि चिंतन के साथ अचिंतन, प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति और वाक् के साथ अवाक् का अभ्यास होने पर ही शक्ति का विस्फोट होता है। चेतना का नया आयाम तभी उद्घाटित हो सकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की स्पष्ट मान्यता है कि जीवन-यात्रा को चलाने के लिए प्रवृत्ति आवश्यक है। साथ ही साथ जीवन की सचाई और परम सत्य को पाने के लिए निवृत्ति की साधना भी अपेक्षित है। जो केवल प्रवृत्ति करते हैं—वे जीवन की यात्रा चला सकते हैं, किंतु जीवन की सचाई को प्राप्त नहीं कर सकते। प्रवृत्ति जीवन-यात्रा का साधन बन सकती है—साध्य नहीं। इस संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा ही रचित कविता की निम्नोक्त पंक्तियां मननीय हैं—

प्रवृत्ति? धुंए से लिपटी हुई आग।
निवृत्ति? उसी आग से जलता हुआ चिराग।।

प्रवृत्ति और निवृत्ति के संतुलन के इस मंत्र को हम समझें, जीएं। जीवन में विकास की नई दिशाएं उद्घाटित होंगी। ❖

समभाव राखै ते सुज्ञानी

❁

❑ श्रीचंद रामपुरिया ❑

वे अनूठे आत्मज्ञानी थे। शुद्ध आत्म-दशा को प्राप्त करना—यही स्वामीजी के जीवन की साध थी और इसी कारण उनकी चित्तवृत्ति सब विकल्पों से परे रह कर उसकी साधना में एकांत निमग्न थी। जब हम आचार्यश्री भिक्षु को इसी तरह के एकांत-अनुपश्यी—आत्मलक्षी के रूप में देखने की चेष्टा करते हैं, तभी हमें उनकी सच्ची तह लग पाती है। स्वामीजी अपनी आत्मा में ही बसते और जीते थे। आत्म-वास ही उनके लिये सबसे बड़ा कुशल और क्षेम था। बाह्य सांसारिक विकल्पों में वे मुरझाते नहीं थे। स्वामीजी कहा करते—'समभाव राखे ते सुज्ञानी', जो आत्मा को तौल कर रखता है, राग-द्वेष के वश समभाव को, चित्त-समाधि को नहीं खोता—वही सच्चा ज्ञानी है। स्वामीजी जीवन में प्रतिपल इस समभाव की रक्षा करते रहे थे।

मिथिला के अधिपति नमि राजर्षि ने पुत्र को राज्य सौंप दीक्षा ली। उस समय इंद्र ब्राह्मण का रूप धारण कर नमि राजर्षि के पास आ बोलने लगा—'हे भगवन! अग्नि और वायु के द्वारा ये मंदिर और आपका अंत:पुर दग्ध हो रहे हैं। जरा उनकी ओर दृष्टि क्यों नहीं डालते?' नमि राजर्षि ने जवाब दिया—'मिथिला नगरी में हमारा कुछ नहीं। मिथिला के जलने से हमारा कुछ नहीं जलता। मैं तो सुखपूर्वक जीता और बसता हूं। जिस भिक्षु ने पुत्र-कलात्रादि का त्याग कर दिया और जो सर्व व्यापार से रहित है, उसके लिए प्रिय-अप्रिय कुछ भी नहीं। सर्वत: विमुक्त एकांतानुपश्यी-आत्मलक्षी-मुनि, अनगार, भिक्षु तो हमेशा क्षेम कुशल है।' नमि राजर्षि के इस उत्तर से उनकी आत्मदशा का पूरा-पूरा पता चलता है। यह एक आत्मज्ञानी की अनूठी आत्मदशा थी, जिसे त्यागी, वैरागी ही समझ सकते हैं।

आचार्यश्री भिक्षु की आत्मदशा भी ऐसी ही निर्विकार थी। वे अनूठे आत्मज्ञानी थे। शुद्ध आत्मदशा को प्राप्त करना—यही स्वामीजी के जीवन की साध थी और इसी कारण उनकी चित्तवृत्ति सब विकल्पों से परे रह कर उसकी साधना में एकांत निमग्न थी। जब हम आचार्यश्री भिक्षु को इसी तरह के एकांत-अनुपश्यी—आत्मलक्षी के रूप में देखने की चेष्टा करते हैं, तभी हमें उनकी सच्ची तह लग पाती है। स्वामीजी अपनी आत्मा में ही बसते और जीते थे। आत्म-वास ही उनके लिए सबसे बड़ा कुशल और क्षेम था। बाह्य सांसारिक विकल्पों में वे मुरझाते नहीं थे। स्वामीजी कहा करते—'समभाव राखै ते सुज्ञानी', जो आत्मा को तौल कर रखता है, राग-द्वेष के वश समभाव को, चित्त-समाधि को नहीं खोता—वही सच्चा ज्ञानी है। स्वामीजी जीवन में प्रतिपल इस समभाव की रक्षा करते रहे थे। उनकी अंतर-भावना धर्म-ध्यान से ओत-प्रोत रहती और हर समय वे आत्मा के एकांत-हित की बात को सामने रख कर ही कदम उठाते। वे एक आध्यात्मिक योगी थे। आत्म-साधना उनके जीवन का महायोग था। उनके विचारों और दृष्टांत में आध्यात्मिकता कूट-कूट कर भरी हुई है। प्रस्तुत है उनके विचारों की एक झलक—

मृत्यु और मोह

रोग, वियोग, मृत्यु आदि कष्ट पड़ने पर संसारी लोग रोना-पीटना

करने लगते हैं। स्वामीजी ने एक बार कहा था—'ऐसे अवसरों पर रोना-पीटना नहीं चाहिए। अपनी आत्मा को मजबूत बना लेना चाहिए। धैर्य और समभाव से सहन करना चाहिए। सिर पर कर्ज होने से उतारने की इच्छा व समर्थ न होने पर भी जैसे पाने वाला जबरदस्ती अपने रुपए अदा कर लेता है—उसी तरह संचित कर्म उदय में आकर फल दिए बिना नहीं रह सकते। जब महाजन कर्ज अदा करता है तो मूर्ख रोने लगता है, पर चतुर विचार करता है—'लो चलो अच्छा ही हुआ। कुछ बोझा तो हलका हुआ। रुपए तो अंत-पंत देने ही पड़ते। आज ही चुक गए तो टंटा नहीं रहा।' इसी तरह से कष्ट के समय सोचना चाहिए—'यह कर्म-कर्ज चुक रहा है। आज नहीं तो कल संचित कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता। अच्छा हुआ जो आज ही उदय में आ गए। कुछ तो आत्मा हलकी हुई।''

स्वामीजी के उपदेशों में उनकी आध्यात्मिकता फूट पड़ती है। इसी तरह स्वामीजी ने एक बार कहा था—''एक मनुष्य विवाह के कुछ दिनों बाद ही चल बसा। यह सुन कर लोगों में हाहाकार मच गया। लोग कहने लगे—'बेचारी बारह वर्ष की लड़की का क्या हाल होगा? उसके दिन कैसे कटेंगे? गजब हो गया!' इस तरह विलाप कर लोग सोचते हैं, मानों वे दया कर रहे हैं। परंतु, वास्तव में वे उसके कामभोग, ऐशो-आराम की ही चिंता करते हैं। सभी लोग यही सोचते हैं कि यदि लड़का जीवित रहता तो दो-चार लड़के-लड़कियां होते। लड़की को सुख मिलता। परंतु, क्या यह भी कोई सोचता है कि इन काम-भोगों के सेवन से लड़की का क्या हाल होता? न कोई यह सोचता है कि मृत लड़के की काम-सेवन से क्या गति हुई होती। संसारी लोगों की सत्य की ओर दृष्टि जानी मुश्किल है। ज्ञानीपुरुष जनम-मरण का हर्ष-शोक नहीं करते। वे केवल परभव की चिंता करते हैं।''

कीर्तिशेष (श्रीयुत) श्रीचंदजी रामपुरिया (1909–2009) का यह शताब्दी वर्ष है। 24 जुलाई, 2001 को कोलकाता में जब उन्होंने अंतिम सांस ली तो वे कोई 93 वर्ष के थे। उनका जीवन-काल एक निश्छल कर्मयोगी का जीवन रहा। सन् 1935 से 1968 तक कोलकाता में वकालत करते हुए भी साधना और स्वाध्याय की ओर वे निरंतर अभिमुख रहे। मात्र 59 वर्ष की वय में रामपुरियाजी ने वकालत का पेशा भी त्याग दिया और अपना जीवन पूरी तरह से सेवा, साधना और स्वाध्याय के निमित्त कर दिया। ज्ञानार्जन, तत्त्व-चर्चा, लेखन और अध्ययन में सर्वदा निरत रामपुरियाजी ने जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, जैन विश्वभारती, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय और अन्य अनेक संस्थानों-संगठनों में प्रमुख पदों पर रहते हुए अपनी प्रज्ञा और ऊर्जा से समाज को आप्लावित किया। वे 'ओसवाल नवयुवक' के संपादक भी रहे, लेकिन *जैन भारती* के साथ उनका गहरा और घना संबंध रहा। वर्ष 1949 से 1954, फिर 1956 और 1986 की अवधि में आपने *जैन भारती* का संपादन किया, जबकि सन् 1990 से 1996 तक *जैन भारती* के प्रधान संपादक भी रहे। *जैन भारती* के वर्तमान कलेवर से रामपुरियाजी न केवल प्रसन्न थे, इसके इसी स्वरूप को उत्तरोत्तर गतिशील देखते रहने की उनकी चाहत थी। उनके साथ हुई चर्चाओं का स्मरण करते हुए मैं आज भी उत्साह से सराबोर हो जाता हूं।

15 फरवरी, 2009 उनका 101वां जन्म दिन है। (श्रीयुत) श्रीचंदजी रामपुरिया का पावन स्मरण करते हुए उन्हीं के साहित्य में से एक रचना *जैन भारती* के पाठकों के लिए यहां प्रस्तुत की गई है।

—सं.)

स्वामीजी ने कितना सुंदर विवेक दिया है। हम मौत देख कर स्वयं विह्वल हो जाते हैं और विधवा को भी उसकी याद दिला-दिला कर उसके जीवन को दुर्वह्य कर देते हैं। जीवन को धर्मध्यान में लगा देने से यह वियोग-व्यथा कितनी शांत हो सकती है और जीवन-वहन कितना सरल—यह स्वामीजी के उपरोक्त अवतरण से समझना चाहिए।

पांच महाव्रत और उनकी संगति

स्वामीजी कहा करते थे कि हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—इन पांचों पापों के युगपत त्याग से ही कोई जैन साधु बन सकता है। ऐसा त्याग भी सर्वथा और यावज्जीवक होना चाहिए। जो एक या अधिक पापों का त्याग करता है, परंतु सब का एक साथ नहीं, अथवा त्याग तो सब का करता है, परंतु संपूर्ण रूप से—तीन करण तीन योग से नहीं—वह गृहाचारी है, साधु नहीं। सर्व पापों से एक साथ संपूर्ण विरति को ही महाव्रत कहते हैं।

स्वामीजी ने अपने इस सिद्धांत को गुरु-शिष्य के संवाद रूप में बहुत सुंदर ढंग से समझाया है।

गुरु—'हिंसा, चोरी, झूठ, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—इन दुष्कर्मों के आचरण से जीव कर्मों का उपार्जन कर चार-गति रूप संसार में भ्रमण करता है। अहिंसा, अमिथ्या, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांचों महाव्रतों का निरतिचार पालन करने वाला अणगार नए कर्मों का उपार्जन न करता हुआ पुराने कर्मों का क्षय करता है और इस प्रकार अपनी आत्मा को निर्मल कर मोक्ष प्राप्त करता है।'

शिष्य—'मैं पहला महाव्रत ग्रहण करता हूं। मैं छह प्रकार के जीवों की हिंसा नहीं करूंगा, परंतु मेरी जबान इतनी वश में नहीं कि मैं झूठ छोड़ सकूं। अत: स्वामीजी ! झूठ बोलने की मुझे छूट है।'

गुरु—'भगवान के बताए हुए पांच महाव्रत इस तरह ग्रहण नहीं किए जाते। जब तुम झूठ बोलने का त्याग नहीं करते तब यह विश्वास कैसे हो कि तुम हिंसा में धर्म नहीं ठहराओगे। झूठ बोलने वाला यह कहते संकोच कैसे करेगा कि देव, गुरु और धर्म के लिए प्राणियों की हिंसा करने में बुराई नहीं और आरंभादि कर देवलादि बनाने से जीव भली गति को प्राप्त करता है? मिथ्याभाषण द्वारा कोई इस सिद्धांत का प्रचार करने लग जाए कि हिंसा में भी धर्म है तो महाव्रत की तो बात दूर रही, समकित और चली जाए।'

शिष्य—'स्वामी! मैं हिंसा और झूठ, दोनों का त्याग करूंगा, परंतु चोरी नहीं छोड़ सकता। धन से मुझे अत्यंत मोह है।'

गुरु—'यदि तू जीव-हिंसा नहीं करेगा और झूठ नहीं बोलेगा तो तेरी चोरी कैसे निभेगी? यदि तू चोरी कर सत्य बोलेगा तो लोग तुझे चोरी कब करने देंगे? वे तो तुझे मुंह पर ही फटकार बताएंगे। परधन की चोरी करने से मालिक दुख पाता है। किसी को दुख देना हिंसा है। यदि तू कहेगा कि इसमें हिंसा नहीं, तो पहले दोनों ही महाव्रत चकनाचूर हो जाएंगे।'

शिष्य—'मैं तीनों महाव्रतों को अच्छी तरह ग्रहण करता हूं। परंतु, चौथा महाव्रत स्वीकार करना मुझसे नहीं बनता। मोह उदय से मेरी आत्मा वश में नहीं। मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक कैसे रह सकता हूं?'

गुरु—'चौथे आश्रव—अब्रह्मचर्य के सेवन से पहले तीनों महाव्रत भंग हो जाते हैं। अब्रह्मचर्य सब गुणों को एक पलक मात्र में ही उस तरह छार कर देता है, जिस तरह पीनी हुई रुई को आग। मैथुन से पंचेंद्रिय जीवों की हिंसा होती है। हिंसा नहीं होती, ऐसा कहने से झूठ का दोष लगता है। अब्रह्मचर्य सेवन में जिनेंद्र भगवान की आज्ञा नहीं । मैथुन-सेवन से भगवान की आज्ञा का भंग होता है, उसकी चोरी लगती है। इस तरह तीनों ही महाव्रत खंडित हो जाते हैं।'

शिष्य—'मैं चारों ही महाव्रतों को ग्रहण करता हूं, परंतु पांचवां महाव्रत कैसे ग्रहण करूं? ममता छोड़ना मेरे लिए कठिन है। मैं नव ही प्रकार का परिग्रह रखूंगा।'

गुरु—'क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य, द्विपद-चौपद, हिरण्य-सुवर्ण और कुंभी धातु—ये परिग्रह, हिंसा, झूठ, चोरी और अब्रह्मचर्य—इन चारों आश्रवों के मूल आधार हैं। तू परिग्रह की छूट रख कर अन्य व्रतों का किस तरह पालन करेगा? ऐसा कहना तो तुम्हारी निरी भूल है।'

शिष्य—'खैर, मैं पांचों ही आश्रवों का त्याग करूंगा, परंतु केवल एक करण, तीन योग से। मेरे स्नेही-संगी बहुत हैं। अत: मैं कराने और अनुमोदन करने की छूट रखता हूं।'

गुरु—'घर में थे तब तो तुम्हारी कोई गिनती ही नहीं करता था और खाने के लिए तुम्हें अनाज तक नहीं मिलता था और अब भगवान के साधुओं का वेश ग्रहण करने की इच्छा कर राज्य करने चले हो। तूने त्याग कर केवल अपना घर त्यागा है—उसमें होकर कितना धन-धान्य होगा? अब तो तू लोक में हुक्म चलाने की मंशा करता है—इस हिसाब से तू एक महाराजा से कम कहां है?'

शिष्य—'मैं पांचों ही आश्रवों का दो करण, तीन योग से त्याग करता हूं। अब केवल अनुमोदन की छूट बाकी रहती है। अब मेरे वैराग्य में कोई कमी नहीं।'

गुरु—'अनुमोदन की छूट रख लेने से तू अशुद्ध आहार बहरेगा, गृहस्थ के साथ तुम्हारा संभोग बना रहेगा और इससे तुम्हारे पांचों ही महाव्रतों में बिगाड़ हो जाएगा। पांचों ही आश्रवों में हर्ष भाव रहने से उनके प्रति तुम्हारा आदरभाव नहीं छूटेगा। इस तरह मन, वचन, काया—इन तीनों ही योग के विषयों में तुम्हारा आर्त-रौद्र ध्यान रहेगा। पांचों ही आश्रवों का तीन करण, तीन योग से परिहार किए बिना कोई अणगार नहीं बन सकता। धर्म और शुक्ल ध्यान से ही अणगार होता है।'

यह सुन कर शिष्य ने पांचों महाव्रत युगपत रूप से और तीन करण तीन योग से यावज्जीवन के लिए ग्रहण कर आत्म-कल्याण किया। गीता में कहा है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।

इसका अर्थ है—'जो संपूर्ण प्राणियों के लिए रात्रि है उस नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानंद में संयमी पुरुष जागता है और जिस नाशशील क्षणभंगुर सांसारिक सुख में समस्त भूतप्राणी जागते हैं, वह तत्त्ववेत्ता मुनि के लिए रात्रि है।'

गीता का यह श्लोक स्वामीजी की चित्तवृत्ति पर संपूर्ण रूप से लागू पड़ता है। दुनिया जन्म-मृत्यु में हर्ष-शोक मनाती है। स्वामीजी आत्मा को अमर समझ मग्न रहने का उपदेश करते हैं।—'त्यांरी लागी मुक्ति सूं ताली'—वे कहते हैं—ज्ञानी की धुन मोक्ष में लगी होती है।

—'रह्या धर्म शुक्ल ध्यान ध्याई'— वे धर्म शुक्ल ध्यान में रत रहते हैं। दुनिया हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह बिना अपना गुजर नहीं देखती। स्वामीजी ने इनके सर्वथा और युगपत त्याग की आवश्यकता बतलाई है। आंतरिक मुमुक्षुभाव और आध्यात्मिकता बिना सत्य दृष्टि के संभव नहीं। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के विचार–प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों–कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित–प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ–साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ–सुथरी, बिना काट–छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल–मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी–कविता
भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र–व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार
पहले से ही अपने पास रखें

मर्यादा : मस्तक का ताज

❁

❑ साध्वी शुभयशा ❑

मर्यादा महोत्सव अहंकार और ममकार के विसर्जन का महोत्सव भी है। साधु-साध्वी गुरु-चरण में पहुंचते ही जब अपना सर्वस्व समर्पण करते हैं तो वह प्रकारांतर से अहं विसर्जन ही होता है। अहं विसर्जन का यह एक प्रायोगिक रूप है, जो तब एक-एक में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। आचार्य भी प्रत्येक साधु-साध्वी की समग्रता से पृच्छा करते हैं। उनके द्वारा किये गये श्रेष्ठ कार्य की प्रशंसा करते हैं और यत्किंचित प्रमाद के प्रति जागरूक करते हैं। एक दृष्टि से यह समय साधु-साध्वियों की सारणा-वारणा का समय होता है। समसामयिक विषयों पर और नवीन मुद्दों पर चिंतन-मंथन किया जाता है।

श्रीमद् जयाचार्य की यह पंक्ति—'माघ शुक्ला सप्तमी का दिन तेरापंथ के लिए मंगलमय दिन है'—मर्यादा की महिमा को सहस्रगुणित करने वाली अनगिनत रहस्यों का अनावरण करती हुई सोच के नए वातायन खोल रही है। हम सभी जानते हैं कि एक वर्ष में 365 दिन होते हैं। उसमें केवल एक दिन को ही तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जयाचार्यश्री ने मंगलमय माना। इसका आधार आज जितना स्पष्ट है, उतना शायद उस समय नहीं था। यद्यपि श्रीमद् जयाचार्य की पावन ज्ञान रश्मियां 'शुभ-भावी' का स्पष्ट अवबोध कर रही थीं, किंतु आम आदमी उससे अनजान ही था।

145वां मर्यादा महोत्सव
❑ माघ शुक्ला सप्तमी : 2 फरवरी ❑
विशेष

आज तेरापंथ की जो छवि जन-मानस पर उभरी है, उसमें इसी दिन का योगदान स्वर्णाक्षरों में अंकित है। व्यक्ति और संगठन की अस्मिता को सुरक्षित रखने में तथा उसे संवर्धित व संपोषित करने में इस दिन का जितना योगदान है—उतना शायद अन्य दिनों का नहीं।

यही वह दिन था जिस दिन आचार्यश्री भिक्षु ने विक्रम संवत 1859 शनिवार, माघ शुक्ला सप्तमी को अंतिम मर्यादा पत्र लिखा था। यही मर्यादा पत्र संघ की एकता व अखंडता का आज एकमात्र छत्र है। एकतंत्र में प्रजातंत्र और अध्यात्म का विपुल मंत्र इस मर्यादा पत्र का मूल स्वर है। संघ की सुव्यवस्था और निष्पक्ष न्याय व्यवस्था का सुघड़ तंत्र यही मर्यादा-पत्र है।

क्या है मर्यादा पत्र : कैसी हैं मर्यादाएं

सौहार्द, समर्पण, समविभाग और समानता की व्यवस्था का नाम है—मर्यादा। त्याग, तपस्या और साधना का त्रिवेणी संगम है—मर्यादा का अध्यात्म मंत्र। रहें बाहर, जीएं भीतर की कलात्मक जीवनशैली का नाम है—मर्यादा। एक आचार, एक आचार्य और एकरूप व्यवस्था का सुदृढ़ आधार है—मर्यादा।

ये मर्यादाएं संघ के भाल पर लगा सुव्यवस्थित, सुरम्य तिलक है, जो हमेशा मंगल की कामना करता है। संघ को अनुशासन के सूत्र में बांध कर रखने का बीड़ा ये मर्यादाएं उठाती हैं। निर्दोष और क्रियाशील

संगठन की नींव को मजबूती प्रदान करने का सबक इन मर्यादाओं में अंतर्निहित है। इन्हीं मर्यादाओं के द्वारा संगठन के सदस्यों के कर्तव्य-अकर्तव्य की सीमाएं निर्धारित की जाती हैं। तभी ये मर्यादाएं कभी भी रूढ़ि बन कर वातावरण में किसी तरह की घुटन पैदा नहीं करतीं। मर्यादाओं से व्यवस्था में निखार आए, उन्नति के द्वार हमेशा खुलते रहें—इसलिए वैचारिक उत्क्रांति को मर्यादाओं के द्वारा बहुमान दिया जाता है।

मर्यादाएं क्यों

आचार्यश्री भिक्षु ने मर्यादाओं के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा—**शिषादिक ममता मिटावण रो, नै चारित्र चोखो पालण रो उपाय कीधौ छै। विनय मूल धर्म नै न्याय मारग चालण रो उपाय कीधौ छै। भेषधारी विकला नै मुंडै, भैला करे ते शिषा रा भूखा एक-एक रा अवर्णवाद बोलै, फारा तोरो करै, मां हों मा कजिया राग झगड़ा करै एहवा चिरत देख नै साधां रे मरजादा बांधी छै, शिष्य साषा रो संतोष कराय नै सुखी संजम पालण रो उपाय कीधौ छै।**

आचार्यश्री भिक्षु की ये पंक्तियां तात्कालिक साधु समाज की व्यवस्था का चित्रण करती हैं। उस समय पैसा देकर शिष्य खरीद लिए जाते थे। शिष्यों के लिए साधु समाज एक-दूसरे से झगड़ा कर लेते थे। शिथिलाचारी थे अर्थात् स्वीकृत नियमों का पालन नहीं करते थे। इसीलिए आचार्यश्री भिक्षु ने मर्यादाएं बनाईं।

आचार्यश्री भिक्षु विक्रम संवत 1817 में अलग हुए और विक्रम संवत 1832, मिगसर कृष्णा सप्तमी को उन्होंने प्रथम मर्यादा पत्र लिखा। मध्य काल में कई मर्यादाएं बनाईं। फिर अंतिम मर्यादा पत्र संवत 1859, माघ शुक्ला सप्तमी, शनिवार को बनाया। प्रश्न उठता है कि अपने गुरु आचार्य रघुनाथजी से पृथक होने के पंद्रह वर्ष बाद उन्होंने मर्यादाएं क्यों बनाई? पहले ही क्यों नहीं बना लीं? इसके पीछे अनेक कारणों में से एक मुख्य कारण शायद यह रहा हो कि तत्समय उनके पास साधु समाज की संख्या कम थी। विक्रम संवत 1853 तक साधु-साध्वियों की संख्या बहुत कम थी। छोटे समूह के लिए ऐसी व्यवस्थाएं करने की जरूरत ही नहीं थी। आचार्यश्री भिक्षु के साथ जो संत थे, वे मर्यादानिष्ठ ही थे। आज्ञा का अतिक्रमण करने वाले संत उनसे पहले ही विलग हो गए थे। तेरह में से छह साधु उनके साथ रहे थे। आचार्यश्री तुलसी ने तेरापंथ प्रबोध में इसी बात की पुष्टि करते हुए कहा है—

तेरा मां स्यूं सात गया, छव रह्या परम परमार्थपखी
थिर थिरपाल फते, भी भारी, हर टोकर अभिधान अखी

विक्रम संवत 1853 में हेमराजजी स्वामी की दीक्षा के बाद साधुओं की संख्या में वृद्धि हुई, इसलिए परिष्कार करते-करते अंतिम मर्यादा पत्र—'लिखत' वि. सं. 1859 शनिवार को संपन्न हुआ। यदि हम ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो शनिवार का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। माना जाता है कि इस दिन जो कार्य किया जाता है, वह नैसर्गिक स्थायित्व गुण से युक्त होता है। शायद इसलिए आचार्यश्री भिक्षु ने इस दिन का चयन किया। यह भी मानना चाहिए कि यह 'तेरापंथ' का भाग्य ही था, इसीलिए यह कार्य उसी दिन हुआ।

मर्यादा की प्राण-प्रतिष्ठा

आचार्यश्री भिक्षु ने मर्यादाएं बनाईं और मर्यादाओं का उद्देश्य स्पष्ट किया—यह कोई बड़ी बात नहीं, बल्कि मर्यादा को प्रतिष्ठित करने के लिए वैयक्तिक स्वातंत्र्य को जो बहुमान उन्होंने दिया—यह विलक्षण बात थी। मर्यादा पत्र बना कर उसे एक-एक साधु के पास भेजा गया और उस पर सहमति होने पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया। हस्ताक्षर करने से पूर्व आपने 'इच्छाकार-समाचारी' का प्रयोग करते हुए संतों से कहा—**जिण रा परिणाम चौखा हुवै ते आ मर्यादा नै एसूंस छै, कोई सरमां सरमी रो काम छ नहीं, मूंडै और नै मन म और, इम तो साधु ने करणो छै नहीं...**

इस प्रकार आचार्यश्री भिक्षु ने मर्यादाओं के प्रति हार्दिक श्रद्धाभाव को जाग्रत किया। वे इस बात से भली-भांति वाकिफ थे कि जब तक संघ के प्रत्येक सदस्य में मर्यादाओं के प्रति बहुमान नहीं होगा, उनके प्रति निष्ठा नहीं होगी—तो उनका होना न होना, कोई अर्थ नहीं रखेगा।

आचार्यश्री भिक्षु द्वारा प्रतिष्ठित मर्यादाओं का विधिवत महोत्सव मना कर श्रीमद् जयाचार्यजी ने उनमें नई ऊर्जा का संचार किया। पहले मर्यादा महोत्सव नहीं मनाया जाता था। बालोतरा के श्रावकों की विशेष प्रार्थना पर जयाचार्यश्री ने माघ शुक्ला सप्तमी के दिन प्रथम बार मर्यादा महोत्सव मनाने की घोषणा की। तब से अब तक यह महोत्सव संगठन का आधारभूत तत्त्व बना हुआ है।

संगठन की एकता व अखंडता को बनाए रखने के लिए श्रीमद् जयाचार्यजी ने इस अवसर पर मनोवैज्ञानिक

प्रशिक्षण देने का उपक्रम प्रारंभ किया। जिसके कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदु इस प्रकार हैं—

1. इस अवसर पर संगठन के सदस्यों का सम्मिलन, संगोष्ठी और विचारों का विनिमय होता है।
2. वर्तमान की समस्याओं पर विचार-विमर्श और उनके समाधान की खोज होती है।
3. संगठन के शीर्ष-पुरुष (आचार्य) द्वारा अनुशासन और व्यवस्था की देखभाल व कमियों का संशोधन और भविष्य के लिए जागरूकता का निर्देशन दिया जाता है।
4. संघपति के प्रति सभी का समर्पण भाव विकसित हो, संगठन मजबूत बने—ऐसे विषयों पर चर्चा-परिचर्चा व प्रशिक्षण देने का प्रयास किया जाता है।
5. संकल्पों का पुनरावर्तन कर उनके प्रति श्रद्धा, बहुमान व्यक्त किया जाता है। मर्यादाओं के प्रति आस्था भाव को जाग्रत किया जाता है।

मर्यादाओं का यह उत्सव किसी महाकुंभ-स्नान सम पवित्र होता है। स्नान से तो व्यक्ति की बाह्य-शुद्धि होती है जबकि मर्यादा रूपी महासागर में अभिस्नान करने से संयम की चेतना जाग्रत होती है। आंतरिक व्यक्तित्व में निखार आता है। इस उत्सव में साधु-साध्वी गुरुचरण-रूपी नीड़ में पहुंच कर निश्चिंत हो जाते हैं। आनंद की अनुभूति करते हैं। जैसे शाम ढलते-ढलते पक्षी अपने-अपने नीड़ की तरफ चहचहाते हुए आते हैं और नीड़ प्राप्त कर विश्राम करते हैं—यह आभास और अभीप्सा इस समय सबमें रहती है।

मर्यादा महोत्सव अहंकार और ममकार के विसर्जन का महोत्सव भी है। साधु-साध्वी गुरु-चरण में पहुंचते ही जब अपना सर्वस्व समर्पण करते हैं तो वह प्रकारांतर से अहं विसर्जन ही होता है। अहं विसर्जन का यह एक प्रायोगिक रूप है, जो तब एक-एक में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। आचार्य भी प्रत्येक साधु-साध्वी की समग्रता से पृच्छा करते हैं। उनके द्वारा किए गए श्रेष्ठ कार्य की प्रशंसा करते हैं और यत्किंचित प्रमाद के प्रति जागरूक करते हैं। एक दृष्टि से यह समय साधु-साध्वियों की सारणा-वारणा का समय होता है। समसामयिक विषयों पर और नवीन मुद्दों पर चिंतन-मंथन किया जाता है। साधु-साध्वी नवीन विषयों पर चिंतन कर अपना निष्कर्ष आचार्य के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। फिर आचार्य जो निर्णय देते हैं, वह सर्वमान्य होता है। स्वतंत्र चिंतन की इस मनोवृत्ति को वाद-विवाद का स्थान नहीं दिया जाता। इसका निरसन करने के लिए आचार्य भिक्षु ने कहा—

...केवळिया न भूलावणो।
पण खांच अंश मात्र करणी नहीं।।

प्रस्तुत संदर्भ में जयाचार्यश्री के शासन-काल का एक प्रसंग द्रष्टव्य है—विक्रम संवत 1911 में जयाचार्यश्री रतलाम में विराज रहे थे। प्रसंग था अकेला साधु, अकेली स्त्री से व अकेली साध्वी अकेले पुरुष से बात करे, सेवा कराए तो तीसरा व्यक्ति कितने हाथ की दूरी पर होना चाहिए। इस विषय पर विचार करने के लिए जयाचार्यजी ने पांच साधुओं को नियुक्त किया। दो साधुओं ने कहा—नौ हाथ की दूरी होनी चाहिए। अन्य दो ने कहा—सात हाथ की दूरी होनी चाहिए। एक साधु ने कहा—पांच हाथ की दूरी होनी चाहिए। सभी अपने-अपने विचार का महत्त्व अधिक समझ रहे थे। जयाचार्यश्री ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा—पांचों साधुओं के निष्कर्षों का संकलन कर उसमें पांच का भाग दे दो। उससे जो संख्या आए उतने हाथ की दूरी को प्रमाण माना जाए। इस प्रकार 9+9,7+7,+5=37÷5=7—निष्कर्षतः सात हाथ की दूरी निश्चित की गई। इस प्रकार सभी ने नवनिर्मित मर्यादा विधि का तहेदिल से बहुमान किया।

श्रद्धा, आचार या तत्त्व का कोई भी विषय हो—चिंतनपूर्वक निर्णयों की क्रियान्विति की जाती है। श्रम का समविभाग, आहार का समविभाग, स्थान का समविभाग व प्राथमिक व्यवस्थाओं का सम्यक् समविभाग कर आचार्य सभी को निश्चिंत करते हैं।

तेरापंथ धर्मसंघ के सभी सदस्य मर्यादा के रक्षा-मंत्र से मंत्रित हो अपने-आप को सुरक्षित महसूस करते हैं। लगता है कि यह संघ मर्यादा रूपी कवच को धारण करके ही आज के युग के भौतिक परिवेश में भी अपनी विलक्षणता बनाए हुए हैं और समग्र रूप में सुरक्षित है। हम देखते हैं कि जहां कहीं भी एकता, अखंडता और विलक्षणता दिखाई देती है—वहां मर्यादा और अनुशासन की अनुगूंज सुनाई देती है—जहां मर्यादापूर्वक नियमों की सम्यक् अनुपालना होती है, वहां चींटी भी पहाड़ पर आरोहण कर अपना परचम फहरा सकती है। इसीलिए यह कामना की जाती है—

मर्यादा का कवच पहन कर,
अपने मन पर राज करें।
सुघड़ व्यवस्था अनुशासन का,
मस्तक पर हम ताज धरें।। ❖

गंगो का जाया

❁

❑ भीष्म साहनी ❑

थोड़ी देर तक मुंह में उंगली दबाए वह पुल पर आते-जाते लोगों को देखता रहा, फिर गणेशी की तलाश में आगे निकल गया। शहर की गलियां, एक के बाद दूसरी, अपना जटिल इंद्रजाल फैलाए, जैसे रीसे के इंतजार में ही बैठी थीं। एक के बाद दूसरी गली में बढ़ने लगा, मगर किसी में भी उसे कल का परिचित रूप नजर नहीं आया। न ही कहीं गणेशी की आवाज सुनाई दी। थोड़ी देर तक घूमने के बाद रीसा एक गली के मोड़ पर बैठ गया, अपनी पालिश की डिबिया और ब्रश सामने रख लिए और अपने पहले ग्राहक का इंतजार करने लगा। गणेशी की तरह उसने मुंह टेढ़ा करके— 'पालिश श श....!' का शब्द पूरी चिल्लाहट के साथ पुकारा। पहले तो अपनी आवाज ही सुन कर स्तब्ध हो रहा, फिर नि:संकोच बार-बार पुकारने लगा। पांच-सात मर्तबा जोर-जोर से चिल्लाने पर एक बाबू, जो सामने एक दूकान की भीड़ में सौदा खरीदने की इंतजार में खड़ा था, रीसे के पास चला आया।

गंगो की जब नौकरी छूटी तो बरसात का पहला छींटा पड़ रहा था। पिछले तीन दिन से गहरे नीले बादलों के पुंज आकाश में करवटें ले रहे थे, जिनकी छाया में गरमी से अलसाई हुई पृथ्वी अपने पहले ठंडे उच्छ्वास छोड़ रही थी और शहर भर के बच्चे-बूढ़े बरसात की पहली बारिश का नंगे बदन स्वागत करने के लिए उतावले हो रहे थे। यह दिन नौकरी से निकाले जाने का न था। मजदूरी की नौकरी थी बेशक, पर बनी रहती, तो इसकी स्थिरता में गंगो भी बरसात के छींटे का शीतल स्पर्श ले लेती। पर, हर शगुन के अपने चिह्न होते हैं। गंगो ने बादलों की पहली गर्जन में ही जैसे अपने भाग्य की आवाज सुन ली थी।

नौकरी छूटने में देर नहीं लगी। गंगो जिस इमारत पर काम करती थी, उसकी निचली मंजिल तैयार हो चुकी थी। अब दूसरी मंजिल पर काम चल रहा था। नीचे मैदान में से गारे की टोकरियां उठा-उठा कर छत पर ले जाना गंगो का काम था। मगर आज सुबह जब गंगो टोकरी उठाने के लिए जमीन की ओर झुकी, तो उसके हाथ जमीन तक न पहुंच पाए। जमीन पर, पांव के पास पड़ी हुई टोकरी को छूना एक गहरे कुएं के पानी को छूने के समान लगने लगा था।

कहानी

इतने में किसी ने गंगो को पुकारा—'मेरी मान जाओ गंगो, अब टोकरी तुमसे न उठेगी। तुम छत पर ईंट पकड़ने के लिए आ जाओ।'

छत पर लाल ओढ़नी पहने और चार ईंटें उठाए, दूलो मजदूरन खड़ी उसे बुला रही थी।

गंगो ने न माना और फिर एक बार टोकरी उठाने का साहस किया, मगर होंठ काट कर रह गई। टोकरी तक उसका हाथ न पहुंच पाया।

गंगो के बच्चा होने वाला था, कुछ ही दिन बाकी रह गए थे। छत पर बैठ कर ईंट पकड़ने वाला काम आसान था। एक मजदूर नीचे मैदान में खड़ा, एक-एक ईंट उठा कर छत की ओर फेंकता और ऊपर बैठी मजदूरन उसे झपट कर पकड़ लेती। मगर, गंगो का तो इस काम से खून ही सूखता था। कहीं झपटने में हाथ चूक जाए और उड़ती हुई ईंट पेट पर आ लगे तो क्या होगा?

ठेकेदार हर मजदूर के भाग्य का देवता होता है। उसकी दया बनी

रहे तो मजदूर के सब मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं, पर देवता के तेवर बदल जाएँ तो अनहोनी भी हो के रहती है। गंगो खड़ी सोच ही रही थी कि कहीं से, मकान की परिक्रमा लेता हुआ ठेकेदार सामने आ पहुंचा। छोटा-सा पतला शरीर, काली टोपी, घनी-घनेरी मूंछें। ठेकेदार गंगो को देखते ही चिल्ला उठा—खड़ी देख क्या रही है? उठाती क्यों नहीं, पेट जो निकला हुआ है तो आई क्यों?'

गंगो धीरे-धीरे चलती हुई ठेकेदार के सामने आ खड़ी हुई। ठेकेदार का डर होते हुए भी गंगो के होंठों पर से वह हलकी-सी स्निग्ध मुस्कान ओझल न हो पाई; जो महीने भर से उसके चेहरे पर खेल रही थी, जब से बच्चे ने गर्भ में ही अपने कौतुक शुरू कर दिए थे और गंगो की आंखें जैसे अंतर्मुखी हो गई थीं। ठेकेदार झगड़ता तो भी शांत रहती और जो उसका घरवाला बात-बात पर तिनक उठता तो भी वह चुपचाप सुनती रहती।

—'काम क्यों नहीं करूंगी? छत पर ईंट पकड़ने का काम दे दो, वह कर लूंगी।' गंगो ने निश्चय करते हुए कहा।

—'तेरे बाप का मकान बन रहा है, जो जी चाहा करोगी? चल दूर हो यहां से। आधे दिन के पैसे ले और दफा हो जा। आ जाते हैं..'

—'तुम्हें क्या फरक पड़ेगा, दूलो मेरा काम कर लेगी, मैं उसकी जगह चली जाऊंगी, काम तो होता रहेगा।'

क्षण-भर में ठेकेदार का रजिस्टर खुल गया और गंगो के नाम पर लकीर फिर गई।

ऐन उसी वक्त बारिश का छींटा भी पड़ने लगा था। गंगो ने समझ लिया कि जो आसमान में बादल न होते तो काम पर से भी छुट्टी न मिलती। आकाश में बादल आए नहीं कि ठेकेदार को काम खत्म करने की चिंता हुई नहीं। इस हालत में गर्भ वाली मजदूरन को कौन काम पर रखेगा! गंगो चुपचाप ओढ़नी के पल्ले से अपने गर्भ को ढंकती हुई बाहर निकल आई।

उन दिनों दिल्ली फिर से जैसे बसने लगी थी। कोई दिशा या उपदिशा ऐसी न थी, जहां नई आबादियों के झुरमुट न उठ रहे हों। नए मकानों की लंबी कतारें समुद्र की लहरों की तरह फैलती हुई, अपने प्रसार में दिल्ली के कितने ही खंडहर और स्मृति-कंकाल रौंदती हुई, बढ़ रही थीं। देखते ही देखते एक नई आबादी, गर्व से माथा ऊंचा किए, समय का उपहास करती हुई खड़ी हो जाती। लोग कहते—दिल्ली फिर से जवान हो रही है। नई आबादियों की बाढ़ आ गई थी। नया राष्ट्र, नए निर्माण-कार्य—लोगों को इस फैलती राजधानी पर गर्व होने लगा था।

जहां कहीं किसी नई आबादी की योजना पनपने लगती, तो सैकड़ों मजदूर खिंचे हुए, अपने फूस के छप्पर कंधों पर उठाए, वहां जा पहुंचते और उसी की बगल में झोंपड़ों की अपनी बस्ती खड़ी कर लेते। और, जब वह नई आबादी बन कर तैयार हो जाती, तो फिर मजदूरों की टोलियां अपने फूस के छप्पर उठाए, किसी दूसरी आबादी की नींव रखने चल पड़तीं। मगर, ज्योंही बरसात के बादल आकाश में मंडराने लगते, तो सब काम ठप्प हो जाता और मजदूर अपने झोपड़ों में बैठे, आकाश को देखते हुए, चौमासे के दिन काटने लगते। कई मजदूर अपने गांवों को चले जाते, पर अधिकतर छोटे-मोटे काम की तलाश में सड़कों पर घूमते रहते। काम इतना न था, जितने मजदूर आ पहुंचते थे।

दिल्ली के हर खंडहर की अपनी गाथा है, कहानी है, पर मजदूर की फूस की झोंपड़ी का खंडहर क्या होगा और कहानी क्या होगी? हंसती-खेलती नई आबादियों में इन झोंपड़ों का या इन झोंपड़ों में खेले गए नाटकों का, स्मृति-चिह्न भी नहीं मिलता।

उस रात गंगो और उसका पति घीसू, देर तक झोंपड़े के बाहर बैठे अपनी स्थिति को सोचते रहे।

—'जो छुट्टी मिल गई थी तो घर क्यों चली आई, कहीं दूसरी जगह काम देखती?'

—'देखा है। इस हालत में कौन काम देगा? जहां जाओ ठेकेदार पेट देखने लगते हैं।'

झोपड़े के अंदर उनका छह बरस का लड़का रीसा सोया पड़ा था। घीसू कई दिनों से चिंतित था, तीन आदमी खाने वाले और कमाने वाला अब केवल एक। और, ऊपर चौमासा और गंगो की यह हालत। उसका मन खीज उठा। अगर और पंद्रह-बीस रोज मजदूरी पर निकल जाते, तो क्या मुश्किल था? गर्भ वाली औरतें बच्चा होने वाले दिन तक काम पर जुटी रहती हैं।

घीसू गठीले बदन का, नाटे कद का मजदूर था, जो किसी बात पर तिनक उठता तो घंटों उसका मन अपने काबू में न रहता। थोड़ी देर बाद धीरे-धीरे कहने लगा—'तुम गांव चली जाओ।'

—'गांव में मेरा कौन है?'

—'तू पहले ही सब पाठ पढ़े हुए है। तू इस हालत में जाएगी, तो तुझे घर से निकाल देंगे?'

—'मैं कहीं नहीं जाऊंगी। तुम्हारा भाई जमीन पर पांव नहीं रखने देगा। दो दफे तो तुम से लड़ने-मरने की नौबत आ चुकी है।'

—'तो यहां क्या करेगी? मेरे काम का भी कोई ठिकाना नहीं। सुनते हैं सरकार ज्यादा मजदूर लगा कर तीन दिन में बाकी सड़क तैयार कर देना चाहती है।'

—'मरम्मती काम तो चलता रहेगा?'—गंगो ने धीरे-से कहा।

—'मरम्मती काम से तीन जीव खा सकते हैं? एक दिन काम है, चार दिन नहीं।'—काफी रात गए तक यही उधेड़-बुन चलती रही।

सोमवार को गंगो काम पर से बरखास्त हुई और सनीचर तक पहुंचते-पहुंचते झोंपड़ी की गिरस्ती डांवांडोल हो गई। मां, बाप और बेटा, तीन जीव खाने वाले और कमाने वाला केवल एक। गंगो काम की तलाश में सुबह घर से निकल जाती और दोपहर तक बस्ती के तीन-तीन चक्कर काट आती। किसी से काम का पूछती तो या तो वह हंसने लगता या आसमान पर मंडराते बादल दिखा देता। सड़कों पर दर्जनों मजदूर दोपहर तक घूमते हुए नजर आने लगे। फिर एक दिन जब घीसू ने घर लौट कर सुना दिया कि सरकारी सड़क का काम समाप्त हो चुका है, तो घीसू और गंगो, मजदूरों के स्तर से लुढ़क कर आवारा लोगों के स्तर पर आ पहुंचे। कभी चूल्हा जलता, कभी नहीं। भरपेट खाना किसी को न मिल पाता। छोटा बालक रीसा, जो दिन भर खेलता न थकता था, अब झोंपड़े के इर्द-गिर्द ही मंडराता रहता। पति-पत्नी रोज रात को झोंपड़े के बाहर बैठते, झगड़ते, परामर्श करते और बात-बात पर खीज उठते।

फिर एक रात, हजार सोचने और भटकने के बाद घीसू के उद्विग्न मन ने घर का खर्चा कम करने की तरकीब सोची। अध-भरे पेट की भूख को दबाते हुए बोला—'रीसे को किसी काम पर लगा दें।'

—'रीसा क्या करेगा, छोटा-सा तो है?'

—'छोटा है? चंगे भले आदमी का राशन खाता है। इस जैसे सब लड़के काम करते हैं।'

गंगो चुप रही। कमाऊ बेटा किसे अच्छा नहीं लगता? मगर रीसा अभी सड़क पर चलता भी था, तो बाप का हाथ पकड़ कर। वह क्या काम करेगा? पर, घीसू कहता गया— 'इस जैसे बूट पालिश करते हैं, साइकिलों की दूकानों पर काम करते हैं, अखबार बेचते हैं, क्या नहीं करते? कल इसे मैं गणेशी को सुपुर्द कर दूंगा, इसे बूट पालिश करना सिखा देगा।'

गणेशी घीसू के गांव का आदमी था। इस बस्ती से एक फर्लांग दूर, पुल के पास छोटी-सी कोटड़ी में रहता था। एक छोटी-सी संदूकची कंधे पर लटकाए गलियों के चक्कर काटता और बूटों के तलवे लगाया करता था।

दूसरे दिन घीसू काम की खोज में झोंपड़े में से निकलते हुए गंगो को कह गया—'मैं गणेशी को रास्ते में कहता जाऊँगा। तू सूरज चढ़ने तक रीसे को उसके पास भेज देना।'

रीसा काम पर निकला। छोटा-सा पतला शरीर, चकित, उत्सुक आंखें, बदन पर एक ही कुरता लटकाए हुए। गणेशी के घर तक पहुंचना कौन-सी आसान बात थी। रास्ते में प्रकृति रीसे के मन को लुभाने के लिए जगह-जगह अपना मायाजाल फैलाए बैठी थी। किसी जगह दो-जन झगड़ रहे थे। उनका निबटारा करना जरूरी था। रीसा घंटा-भर उन्हीं के साथ घूमता रहा। कहीं एक भैंस कीचड़ में फंसी पड़ी थी, कहीं पर एक मदारी अपना खेल दिखा रहा था, रीसा दिन-भर घूम-फिर कर दोपहर के वक्त, हाथ में एक छड़ी घुमाता हुआ घर लौट आया।

कह देना आसान था कि रीसा काम करे, मगर रीसे को काम में लगाना नए बैल को हल में जोतने के बराबर था। पर उधर झोंपड़े में बची-बचाई रसद क्षीण होती जा रही थी। दूसरे दिन घीसू उसे स्वयं गणेशी के सुपुर्द कर आया और पांच-सात आने पैसे भी पालिश की डिबिया और ब्रश के लिए दे आया।

उस दिन तो रीसा जैसे हवा में उड़ता रहा। दिल्ली की नई-नई गलियां घूमने को मिलीं, नए-नए लोग देखने को मिले। चप्पे-चप्पे पर आकर्षण था। रीसे की समझ में न आया कि बाप गुस्सा क्यों हो रहा था, जब उसे यहां घूमने के लिये भेजना चाहता था। दूकानें रंग-बिरंगी चीजों से लदी हुईं और भीड़ इतनी कि रीसे का लुब्ध मन भी चकरा गया।

रीसे की मां सड़क पर आंखें गाड़े उसकी राह देख रही

थी, जब रीसा अपने बोझल पांव खींचता हुआ घर पहुंचा। अपने छह सालों के नन्हे-से जीवन में वह इतना कभी नहीं चल पाया था, जितना कि वह आज एक दिन में। मगर मां के मिलते ही वह उसे दिन-भर की देखी दिखाई सुनाने लगा। और, जब बाप काम पर से लौटा तो रीसा अपना ब्रश और पालिश की डिबिया उठा कर भागता हुआ उसके पास जा पहुंचा—'बप्पू, तेरा जूता पालिश कर दूं?'

सुन कर घीसू के हर वक्त तने हुए चेहरे पर भी हलकी-सी मुसकान दौड़ गई।

—'मेरा नहीं, किसी बाबू का करना, जो पैसे भी देगा।'

और गंगो और उसका पति, अपने कमाऊ बेटे की दिनचर्या सुनते हुए, कुछ देर के लिए अपनी चिंताएं भूल गए।

दूसरा दिन आया। घीसू और रीसा अपने-अपने काम पर निकले। दो रोटियां, एक चिथड़े में लिपटी हुई, घीसू की बगल के नीचे और एक रोटी रीसे की बगल के नीचे। दोनों सड़कों पर इकट्ठे उतरे और फिर अपनी-अपनी दिशा में जाने के लिए अलग हो गए।

पर, आज रीसा जब सड़क की तलाई पार करके पुल के पास पहुंचा तो गणेशी वहां पर नहीं था।

थोड़ी देर तक मुंह में उंगली दबाए वह पुल पर आते-जाते लोगों को देखता रहा, फिर गणेशी की तलाश में आगे निकल गया। शहर की गलियां, एक के बाद दूसरी, अपना जटिल इंद्रजाल फैलाए, जैसे रीसे के इंतजार में ही बैठी थीं। एक के बाद दूसरी गली में बढ़ने लगा, मगर किसी में भी उसे कल का परिचित रूप नजर नहीं आया। न ही कहीं गणेशी की आवाज सुनाई दी। थोड़ी देर तक घूमने के बाद रीसा एक गली के मोड़ पर बैठ गया, अपनी पालिश की डिबिया और ब्रश सामने रख लिए और अपने पहले ग्राहक का इंतजार करने लगा। गणेशी की तरह उसने मुंह टेढ़ा करके—'पालिश श श.... !' का शब्द पूरी चिल्लाहट के साथ पुकारा। पहले तो अपनी आवाज ही सुन कर स्तब्ध हो रहा, फिर नि:संकोच बार-बार पुकारने लगा। पांच-सात मर्तबा जोर-जोर से चिल्लाने पर एक बाबू, जो सामने एक दूकान की भीड़ में सौदा खरीदने की इंतजार में खड़ा था, रीसे के पास चला आया।

—'पालिश करने का क्या लोगे?'

—'जो खुशी हो दे देना।'—रीसे ने गणेशी के वाक्य तो दोहरा दिया। बाबू ने बूट उतार दिए और दूकान की भीड़ में फिर जाकर खड़ा हो गया।

रीसे ने अपनी डिबिया खोली। गणेशी के वाक्य तो वह दोहरा सकता था, मगर उसकी तरह हाथ कैसे चलाता? बूट पर पालिश क्या लगी, जितनी उसकी टांगों, हाथों और मुंह को लगी। एक जूते पर पालिश लगाने में रीसे की आधी डिबिया खर्च हो गई। अभी बूट के तलवे पर पालिश लगाने की सोच ही रहा था कि बाबू सामने आ खड़ा हुआ। रीसे के हाथ अनजाने में ठिठक गए। बाबू ने बूटों की हालत देखी, आव देखा न ताव, जोर से रीसे के मुंह पर थप्पड़ दे मारा, जिससे रीसे का मुंह घूम गया। उसकी समझ में न आया कि बात क्या हुई है। गणेशी को तो किसी बाबू ने थप्पड़ नहीं मारा था।

—'हरामजादे, काले बूटों पर लाल पालिश! और गुस्से में गालियां देने लगा।

पास खड़े लोगों ने यह अभिनय देखा। कुछ हंसे, कुछ-एक ने बाबू को समझाया, दो-एक ने रीसे को गालियां दी और उसके बाद बाबू गालियां देता हुआ, बूट पहन कर चला गया। रीसा, हैरान और परेशान कभी एक के मुंह की तरफ, कभी दूसरे के मुंह की तरफ देखता रहा और फिर वहां से उठ कर, धीरे-धीरे गली के दूसरे कोने पर जाकर खड़ा हो गया, हर राह जाते बाबू से उसे डर लगने लगा। गणेशी की तरह—'पालिश श श !' चिल्लाने की उसकी हिम्मत न हुई। रीसे को मां की याद आई और उलटे पांव वापस हो लिया। मगर, गलियों का कोई छोर-किनारा न था, एक गली के अंत तक पहुंचता तो चार गलियां और सामने आ जातीं। अनगिनत गलियों में घूमने के बाद वह घबरा कर रोने लगा, मगर वहां कौन उसके आंसू पोंछने वाला था! एक गली के बाद दूसरी गली लांघता हुआ, कभी गणेशी की तलाश में, कभी मां की तलाश में वह दोपहर तक घूमता रहा। बार-बार रोता और बार-बार स्तब्ध और भयभीत चुप हो जाता। फिर शाम हुई और थोड़ी देर बाद गलियों में अंधेरा छाने लगा। एक गली के नाके पर खड़ा सिसकियां ले रहा था कि उस जैसे ही लड़कों का टोला यहां-वहां से इकट्ठा होकर उसके पास आ पहुंचा। एक छोटे से लड़के ने अपनी फटी हुई टोपी सिर पर खिसकाते हुए कहा—'अबे रोता क्यों है?'

दूसरे ने उसका बाजू पकड़ा और रीसे को खींचते हुए एक बरांडे के नीचे ले गया। तीसरे ने उसे धक्का दिया।

चौथे ने उसके कंधे पर हाथ रखे हुए, उसे बरांडे के एक कोने में बिठा दिया। फिर उस छोटे से लड़के ने अपने कुरते की जेब में से थोड़ी-सी मूंगफली निकाल कर रीसे की झोली में डाल दी।

—'ले, कभी कोई रोता भी है? हमारे साथ घूमा कर, हम भी बूट पालिश करते हैं।'

आधी रात गए, नन्हा रीसा, जीवन की एक पूरी मंजिल एक दिन में लांघ कर, अपने सिर के नीचे ब्रश और पालिश की डिबिया और एक छोटा-सा चिथड़ा रखे, उसी बरांडे की छत के नीचे अपनी यात्रा के नए साथियों के साथ भाग्य की गोद में सोया पड़ा था।

—उधर, झोंपड़े के अन्दर लेटे-लेटे, कई घंटे की विफल खोज के बाद घीसू गंगो को आश्वासन दे रहा था—'मुझे कौन काम सिखाने आया था? सभी गलियों में ही सीखते हैं। मरेगा नहीं, घीसू का बेटा है, कभी न कभी तुझे मिलने आ जाएगा।'

घीसू का उद्विग्न मन जहां बेटे के यूं चले जाने पर व्याकुल था, वहां इस दारुण सत्य को भी न भूल सकता था कि अब झोंपड़े में दो आदमी होंगे और बरसात कटने तक और गंगो की गोद में नया जीव आ जाने तक झोंपड़ा शायद सलामत खड़ा रह सकेगा।

गंगो झोंपड़े की बालिश्त-भर ऊंची छत को ताकती हुई चुपचाप लेटी रही। उसी वक्त गंगो के पेट में उसके दूसरे बच्चे ने करवट ली। जैसे संसार का नवागंतुक संसार का द्वार खटखटाने लगा हो। और, गंगो ने सोचा—यह क्यों जन्म लेने के लिए इतना बेचैन हो रहा है? गंगो का हाथ कभी पेट के चपल बच्चे को सहलाता, कभी आंखों से आंसू पोंछने लगता।

आकाश पर बरसात के बादलों से खेलती हुई चांद की किरणों के नीचे नए मकानों की बस्ती झिलमिला रही थी। दिल्ली फिर बस रही थी और उसका प्रसार दिल्ली के बढ़ते गौरव को चार चांद लगा रहा था। ❖

अहिंसा तत्त्व : एक सिंहावलोकन पृष्ठ 15 का शेष

तब तक नहीं चलता जब तक कि बोध जागना शुरू न हो जाए, तब तक ऐसा लगता है कि इस बीज में वृक्ष है या नहीं। परंतु ऐसा कोई बीज नहीं है जिसमें वृक्ष न हो। प्रमाण तो तभी मालूम होता है जबकि अंकुर फूटे। बिना प्रयास व साहस के यह कैसे हो? संभावनाएं हर व्यक्ति में मौजूद हैं। आनंद हर व्यक्ति का स्वभाव है। उसका स्वरूप है—कोई दुख नहीं चाहता, क्योंकि यह विजातीय है। पर, आनंद से परिचय का एक ही रास्ता है—संकल्प का, सातत्य का, प्रतीक्षा व धैर्य का। स्वामी ब्रह्मेशानंद ने बड़ा ही सटीक कहा है कि मन, विचार की शक्ति अणुबम से कहीं ज्यादा है। शक्ति सबके भीतर है, पर प्रस्फुटन की देर है। इस दृष्टि से अहिंसा-तत्त्व कठिन नहीं, आसान हो सकते हैं—स्वयं के लिए व समस्त प्राणियों के भले के लिए।

महात्मा गांधी ने मन, विचार को आत्मबल का भाग बनाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने की बात कही है। यदि सच्चे मन से और सच्चे भाव से ऐसी प्रार्थना प्रतिदिन की जाए तो धीरे-धीरे परमात्मा प्रसन्न होकर मन, विचार और आत्मा को बलवान बना कर विवेक जाग्रत कर ही देता है। शर्त यही है कि प्रार्थना शुद्ध व सच्चे मन से हो, उसमें भाव उंडेले गए हों। ऐसी प्रार्थना में अमोघ शक्ति होती है।

अहिंसा को गहराई से समझने के लिए, अध्ययन के लिए, आत्मबल को मजबूत करने, अहिंसा-तत्त्वों को अंगीकार करने व उसके प्रचार-प्रसार, जनमानस का भाग बनाने के लिए बहुत-सी बातें हो सकती हैं। शास्त्र तो है ही, पर जो प्रयत्न **आचार्यश्री महाप्रज्ञ** की देशभर में चल रही लंबी अहिंसा-यात्रा और **जैन भारती** के **अक्टूबर, 2007 से अक्टूबर, 2008** के हर अंक में विशिष्ट व्यक्तियों के लेख देकर अहिंसा की संकल्पना को स्पष्ट करने में जो योग किया गया है—वह स्तुत्य है। ऐसा सातत्य वाला प्रयत्न बहुत कम देखने को मिलता है, इतनी सूझ-बूझ, मेहनत व लगन के साथ। ऐसे सभी लोग धन्य होते हैं, जो अहिंसा को अंगीकार करने और उसे 'प्रसाद' के रूप में बांटने का कार्य करते हैं, मेरी समझ बढ़ाने का कार्य भी उसी का हिस्सा है। इसी के परिणामस्वरूप सुधी पाठकों के लिए **जैन भारती** द्वारा पिछले एक वर्ष में प्रस्तुत किए गए आलेखों का यह सार प्रस्तुत किया गया है। ❖

अशोक 'अनुराग' की कविताएं

•

ढाई आखर

क्यों कह कर
कम किया जाए
वृथा उसे

फैला कर शब्दजाल
थोथ ही भरनी होती
तो ढाई आखर ही क्यूं होते?

और काश!
उसके लिए
न होते
ये ढाई आखर भी।

•

आलोक-सा वह

किसी स्तवन-सा
घुमड़ता है वह लम्हा
नैवेद्य की धूम-सी
अब तक उठती सुगंध
मुझ से

अहर्निश दीप-सी
जलती हुई स्मृति में
वह आलोक-सा
बिखरता।

•

भीतर जो

बाहर फैलती
वही सुगंध

आदमी
भीतर जो
महसूसता है।

•

एक तीर्थ

मैंने किसी के साथ
नहीं बांटा
उस क्षण को
न कलेंडर के पन्नों पर है
वह तारीख बन कर
अतीत हो जाने को

बादल की तरह
बरस कर रीत जाने के लिए नहीं
भीगे एहसास की तरह
रखा है बचा कर उसे

जब
हिम-शिखर पिघल जाएंगे
सागर सूख जाएंगे
कहीं
कुछ भी
नहीं बचेगा शेष

तब—
अनछुआ
अस्पृश्य और पवित्र
वही एक तीर्थ होगा।

•

अन्तःसोता

साथ चलना नियति नहीं थी

छोड़ कर गए जहां
मैं भटफेरियां खाता हुआ
लौट आया हूं
अन्ततः खुद तक

अब
भीतर ही संचरता जाता
अन्तःसोता गहरे
अवगाहन करता हुआ
जिसमें मैं
विलीन हुआ जाता।

❖❖

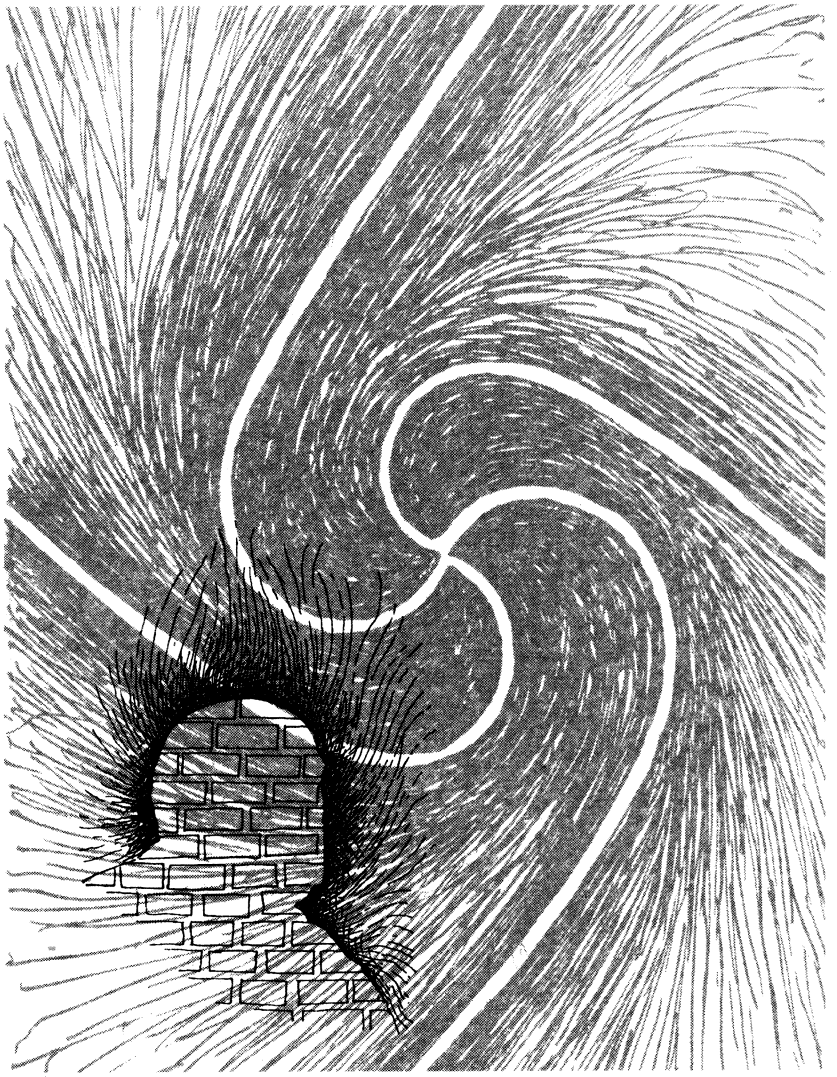

शीलन

हम जिस जगत में रहते हैं, वह वाक्, मन और प्राण के अधीन है। स्थूल जगत में भी इन तीनों के आवर्तन कालत्रयी और अवस्थात्रयी के अनुसार होते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालों और स्वप्न, जागृति व सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं को हम वशीभूत होकर बरतते हैं। इस भौतिक जगत का मन यदि थोड़ा ऊपर उठे तो नाद-बिंदु-कला और ध्यान-धारणा-समाधि की सूक्ष्म भूमिका खुल जाए। जो स्थूल और सूक्ष्म भूमि के इन तीनों प्रकार के अस्तित्व को स्वाहा कर डाले, वह अत्रि है।

—मकरंद दवे

अनेकांत के आलोक में सत्य का दर्शन : महाप्रज्ञ दृष्टि

❁

❑ साध्वी डा. यौगक्षेमप्रभा ❑

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के विचारों का आदि, मध्य और अंत अनेकांत ही है। वे कहते हैं—आज व्यक्ति के सिद्धांत और आचरण में अथवा दर्शन और जीवन-व्यवहार में गहरी खाई है। उसका कारण है—सत्य की उपेक्षा, आग्रहवादी मनोवृत्ति। शाश्वत और अशाश्वत, दोनों एक ही सत्य के दो पहलू हैं। इन दोनों को विभक्त नहीं किया जा सकता। दर्शन को केवल शाश्वत की व्याख्या तक सीमित करना एकांगी दृष्टि है। परिवर्तन, जीवन-व्यवहार और सम-सामयिक समस्याओं की व्याख्या करना भी उसका कार्य है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार अनेकांत दर्शन केवल तत्त्वमीमांसीय व्याख्या तक ही सीमित न रहे। कर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र आदि का अध्ययन अनेकांत दृष्टि से हो तो समाज का कायाकल्प हो सकता है।

अनेकांत दर्शन के उद्गाता भगवान महावीर का प्रत्येक सिद्धांत अनेकांत की नींव पर ही स्थिर है। दृश्य जगत से लेकर अस्तित्व जगत तक की व्याख्या में अनेकांत का समावेश जैन दर्शन का भी वैशिष्ट्य है। यहां जटिल से जटिल प्रश्नों का समाधान विभज्यवादी शैली में प्राप्त होता है। प्रत्येक द्रव्य या पदार्थ परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों का अधिष्ठान है। एक ही द्रव्य में शाश्वत और अशाश्वत, एक और अनेक, सामान्य और विशेष, वाच्य और अवाच्य आदि अनेक विरोधी धर्म विद्यमान हैं। विरोधी युगलों की यही सहावस्थनता अनेकांत दर्शन का आधार है।

भगवान महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यों ने दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए अनेकांत दृष्टि का समग्रता से उपयोग किया है। अनेकांत के आलोक में वे दार्शनिक संतुलन स्थापित करने में सफल भी हुए हैं। विभिन्न दर्शनों में प्रतिभासित होने वाली मत-भिन्नता में समन्वय स्थापित करते हुए उन्होंने अनेकांत के माध्यम से तुलनात्मक अध्ययन की आधारशिला रखी है। फलतः समन्वय, तुलनात्मक अध्ययन, सर्वधर्म सद्भाव का चिंतन पल्लवित हुआ। अनेकांत की इसी उदारवादी दृष्टि को बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी के प्रखर दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के विचारों में पल्लवित होते हुए देखा जा सकता है।

पदाभिरोहण
❑ माघ शुक्ला अष्ठ : 1 फरवरी ❑
विशेष

भारतीय मनीषा के शिखर पुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ज्ञान, दर्शन और आचरण की त्रिवेणी में अभिस्नात अतुलनीय अनुसंधाता हैं। जैन दर्शन और आगम के तो पारगामी विद्वान हैं। वेद, उपनिषद, पुराण, त्रिपिटक, योग आदि ग्रंथों का गहन अध्ययन व विवेचनाओं में भी उनकी असाधारण प्रतिभा का दर्शन होता है। जैन आगमों का संपादन एवं सतत अनुसंधान उनकी सारस्वत ज्ञानाराधना का परिचायक है। अनेकांत की समाधायक दृष्टि उनके दर्शन, चिंतन और व्यवहार में समान रूप से द्रष्टव्य है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार अनेकांत कोरा दर्शन नहीं है, यह एक साधना है। माना गया है कि एकांगी आग्रह राग और द्वेष से ही प्रेरित होता है। सब जानते हैं कि राग और द्वेष को क्षीण करने का प्रयत्न किए बिना एकांगी आग्रह या पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण से मुक्ति नहीं पाई जा सकती। जैसे-जैसे राग-द्वेष क्षीण होता है, वैसे-वैसे अनेकांत दृष्टि विकसित होती है। राग-द्वेष के क्षयीकरण के लिए अनेकांत का दर्शन सर्वाधिक कारगर माना जाता है। सत्य की उपलब्धि के नाम पर जहां राग-द्वेष की अभिवृद्धि हो रही हो, वहां दर्शन अपने लक्ष्य से भटक जाएगा।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के विचारों का आदि, मध्य और अंत अनेकांत ही है। वे कहते हैं—आज व्यक्ति के सिद्धांत और आचरण में अथवा दर्शन और जीवन-व्यवहार में गहरी खाई है। उसका कारण है—सत्य की उपेक्षा, आग्रहवादी मनोवृत्ति। शाश्वत और अशाश्वत, दोनों एक ही सत्य के दो पहलू हैं। इन दोनों को विभक्त नहीं किया जा सकता। दर्शन को केवल शाश्वत की व्याख्या तक सीमित करना एकांगी दृष्टि है। परिवर्तन, जीवन-व्यवहार और सम-सामयिक समस्याओं की व्याख्या करना भी उसका कार्य है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार अनेकांत दर्शन केवल तत्त्वमीमांसीय व्याख्या तक ही सीमित न रहे। कर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र आदि का अध्ययन अनेकांत दृष्टि से हो तो समाज का कायाकल्प हो सकता है।

समाज के सामने आज अनेक समस्याएं हैं—सामाजिक विषमता, आर्थिक विषमता, हिंसा और आंतक, जातीयता, सांप्रदायिकता और भ्रष्टाचार जैसी समस्याएं द्विपक्षीय दुविधा खड़ी कर रही हैं। मानसिक अशांति की परिणति अवसाद, 'हाइपरटेंशन', उच्च रक्तचाप, मधुमेह जैसी बीमारियों को जन्म देती है। इससे व्यक्ति का शरीर और मन, दोनों रुग्ण होते जा रहे हैं। समाधायक पुरुष के अभाव में राजनीति और समाजनीति भी दिनो-दिन अपना प्रभाव क्षीण करते जा रहे हैं। नई दृष्टि और नई सृष्टि के लिए भारतीय दर्शन में भी समाधान के स्वर सर्वात्ममना मुखर नहीं हैं। वहीं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की चिंतनधारा असंगत प्रवाह पर चोट करती है और दार्शनिक जगत की जागृति का आह्वान भी कर रही है।

एक प्रश्न है कि दर्शन के नव-उन्मेष का द्वार आज बंद क्यों है? भारतीय दर्शन का वर्तमान चेहरा केवल पूर्वजों के सिद्धांतों की व्याख्या तक सीमित हो गया है। इस अवस्था में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की यह अपेक्षा है कि हमारे दार्शनिक केवल अतीत की समीक्षा और व्याख्या तक सीमित न रहें, वे नए सिद्धांतों की खोज भी करें।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की स्पष्ट मान्यता है कि अनेकांत से अनुप्राणित चिंतन ही सत्य की विराटता को स्वीकृति दे सकता है, अन्यथा सत्य केवल स्वयं तक सीमित रह जाता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'एकांगी (आग्रहवादी) कथन सत्य का पक्षधर नहीं हो सकता।' काव्य की भाषा में वे कहते हैं—'मैं कहता हूं सत्य वही है, तूं कहता है, सत्य नहीं है।' सत्य उतना ही नहीं है, जितना हम आज जानते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—अज्ञात के महासागर में ज्ञात एक छोटा-सा द्वीप है, इसलिए दर्शन की यात्रा निरंतर चलनी चाहिए। नए-नए पर्यायों की खोज नय की सीमा को व्यापकता प्रदान करती है।

आज विज्ञान जगत में नित्य नवीन अनुसंधान हो रहे हैं। अंतरिक्ष में जीवन, नए ग्रहों की खोज, सृष्टि का आदिकाल, 'जीन क्लोनिंग', 'जेनेटिक' परिवर्तन से उपचार एवं व्यवह्रार परिवर्तन, लाखों प्रकाशवर्ष दूर तारों एवं आकाशगंगाओं का अध्ययन, सूक्ष्मातिसूक्ष्म शस्त्रों की खोज, भारहीन वस्तुओं का निर्माण, चिकित्सा विज्ञान में नई-नई शोध एवं उपलब्धियां आदि अनेक क्षेत्रों में विज्ञान द्रुतगति से चरण बढ़ा रहा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'यदि दर्शन के क्षेत्र में एक क्रांति हो तो दर्शन में गतिशीलता आ सकती है। चेतन जगत और अचेतन जगत के संबंध की मीमांसा करके हम उपयोगिता और अनुपयोगिता के क्षेत्र में क्रांति कर सकते हैं। कर्मशास्त्रीय अवधारणाओं को जीवन के पर्यायों के संदर्भ में प्रस्तुत किया जाए तो जीवन के अनेक रहस्यों को उद्घाटित किया जा सकता है।'

जैन दर्शन में ज्ञान मीमांसा का क्षेत्र बहुत विशाल है। इतनी विशाल ज्ञान मीमांसा किसी अन्य भारतीय या पाश्चात्य दर्शनों में अलभ्य है। दार्शनिक जगत में एक समीचीन प्रणाली के रूप में उसे प्रस्तुत कर ज्ञान-मीमांसीय रहस्यों को उजागर किया जा सकता है।

जैन दर्शन सम्मत लेश्या का सिद्धांत व्यक्तित्व निरूपण का एक विशिष्ट सिद्धांत है। व्यक्तित्व विश्लेषण तक सीमित न रह कर व्यक्ति में वांछित परिवर्तन हेतु लेश्या-सिद्धांत की अद्वितीय भूमिका है। आभामंडल के इस सिद्धांत से मानवीय जीवन के अनेक रहस्यों को समझा जा सकता है और समस्याओं के समाधान के लिए प्रयोग हो सकते हैं।

स्थूल जगत दृश्य है जबकि सूक्ष्म जगत रहस्यों का अतल खजाना है। सूक्ष्म की खोज के लिए सूक्ष्म प्रकंपनों को पकड़ना होगा। उन पर कार्य करने से दर्शन को एक नया रूप दिया जा सकता है। शोध एवं अनुसंधान के लिए मन और चित्त से आगे बढ़ कर भावधारा के क्षेत्र में जाना होगा। शरीर तंत्र का संचालक भावों का स्पंदन ही है। उस तक पहुंचने का तात्पर्य है—दर्शन और आचार के द्वेष को मिटा कर परिणाम को प्राप्त करना।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चिंतन का प्रतिपाद्य है—सापेक्ष दृष्टि का विकास। वे कहते हैं—निरपेक्ष दृष्टि एक समस्या है। सापेक्ष दृष्टिकोण का विकास उसका समाधान है। सापेक्ष दृष्टि ध्रुव-सत्य की अपरिहार्य व्याख्या है। यह जितना दार्शनिक सत्य है, उतना ही व्यवहार सत्य भी है। सापेक्ष नीति से व्यवहार में सामंजस्य आता है। उसका परिणाम है—मैत्री, शांति और व्यवस्था। परिवार, जाति, गांव, राज्य, राष्ट्र और विश्व—ये क्रमिक विकासशील संगठन हैं। संगठन सापेक्षता के आधार पर ही बनते हैं। निरपेक्षता के पांच रूप बनते हैं—वैयक्तिक, जातीय, सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय और इसके परिणाम हैं—वर्ग-भेद, अलगाव, अव्यवस्था, संघर्ष, शक्तिक्षय, युद्ध और अशांति। दूसरी ओर सापेक्षता सह-अस्तित्व और सौहार्द की जननी है। इसके भी पांच भेद होते हैं और इसके परिणाम हैं—समता-प्रधान जीवन, समीचीन व्यवस्था, स्नेह, शक्ति-सवंर्धन, मैत्री और शांति।

समन्वयवादी नीति के अनुसार व्यक्ति और समाज की स्थिति सापेक्ष है। कहीं व्यक्ति गौण बनता है और समाज मुख्य तथा कहीं समाज गौण बनता है और व्यक्ति मुख्य। इस स्थिति में स्नेह का प्रादुर्भाव होता है। आचार्य अमृतचंद्र ने इसे मथनी के रूपक से चित्रित किया है। मंथन के समय एक हाथ आगे जाता है और तब दूसरा स्वतः पीछे चला जाता है। दूसरा हाथ जब आगे आता है, तब पहला पीछे सरक जाता है। इस सापेक्ष मुख्यामुख्य भाव से स्नेह मिलता है। एकांत आग्रह से खिंचाव बढ़ता है।

अनेकांतवाद की महत्ता प्रतिपादित करते हुए जैन-दार्शनिक सिद्धसेन कहते हैं—

जेण बिना लोगस्स ववहारो सव्वहा ण निव्वडई।
तस्स भुवणे तक गुरूणो णमो अणेगंतवायस्स।।

वस्तु स्वरूप की व्याख्या तो क्या, जिस अनेकांतवाद के बिना लोक व्यवहार भी सम्यक् प्रतिपादित नहीं हो सकता—संसार के एकमात्र गुरु उस अनेकांतवाद को मेरा नमस्कार है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसी की संपुष्टि में कहते हैं—'जैन दर्शन सभी दर्शनों का समुच्चय है। अनंत दृष्टियों के सह-अस्तित्व को मान्यता देने वाला एक दर्शन कैसे हो सकता है? जैन दर्शन के अध्ययन का अर्थ है—सब दर्शनों का अध्ययन। सब दर्शनों के सापेक्ष अध्ययन का अर्थ है—जैन दर्शन का अध्ययन।'

अनेकांत दृष्टि अनंत नयों की समष्टि है। उसके अनुसार कोई भी एक नय पूर्ण सत्य नहीं है। कोई भी नय असत्य नहीं है। वे सापेक्ष होकर ही सत्य होते हैं। अपेक्षावाद समन्वय की ओर गति है। ❖

अगर आपका पिछला कल खो गया है तो उसको खोया हुआ न समझिए, उसको अनुभव कमाने का साधन बनाइए। इस तरह आपकी खोई हुई पूंजी भी पाई हुई पूंजी बन जाएगी। अतीत के अनुभव की पूंजी को अपनी वर्तमान की पूंजी में मिला दीजिए। और फिर आप देखेंगे कि आपकी खोई हुई चीज भी और अधिक वृद्धि के साथ आपको दोबारा मिल गई है।

पिछले कल का अफसोस करना मानो अपनी क्षमता के एक हिस्से को नष्ट कर देना है। आप ऐसी गलती क्यों करें! आप नए दिन में अपनी अधूरी क्षमता के साथ क्यों प्रवेश करें! पिछले कल के दुख से अपने दिमाग को खाली कर लीजिए और अपनी पूरी ताकत को लेकर अपने नए दिन की योजना में लग जाइए। यही कामयाब जीवन का सही तरीका है।

आप चाहे कितनी ही ज्यादा पिछले कल की चिंता करें, पिछला कल अब दोबारा आपकी तरफ वापस आने वाला नहीं। जाने वाली चीज जा चुकी, रहने वाली चीज बाकी है। जाने वाली चीज को भुला दीजिए और रहने वाली चीज को अपनी पूरी ताकत के साथ पकड़ लीजिए। यही इस दुनिया में कामयाबी हासिल करने का एकमात्र रहस्य है। यहां कामयाबी हासिल करने का दूसरा कोई तरीका नहीं।

—मौलाना वहीदुद्दीन ख़ां

एकता, संगठन और अनुशासन का प्रतीक : मर्यादा महोत्सव

❁

❑ साध्वी जयमाला ❑

> वह संघ कभी पराजित नहीं हो सकता, जहां एकता है। संगठन के अभाव में परिवार, समाज, देश में बिखराव की स्थिति पैदा हो जाती है। वर्तमान समय में तो यह बिखराव और ज्यादा होता जा रहा है। सामाजिक व्यवस्थाएं छिन्न-भिन्न हो रही हैं और धार्मिक संगठनों में भी अनुशासन की उपेक्षा हो रही है। ऐसी परिस्थितियों में तेरापंथ धर्मसंघ की एकसूत्रता अक्षुण्ण है। इसका मुख्य कारण है—आचार्यश्री भिक्षु की सूझ-बूझ, जिन्होंने मर्यादामय तथा अनुशासनमय जीवन-शैली दी। संघ में एक नेतृत्व की सुंदर परंपरा का सूत्रपात कर संघ व संघपति के संबंध को और अधिक प्रगाढ़ बना दिया। एक आचार्य, एक समाचारी तथा तत्त्व-निरूपण की एक शैली—इस त्रिपदी ने संघ के व्यवस्था पक्ष को इतना सुदृढ़ बना दिया कि व्यवस्था करने वाला निश्चिंत रहता है। आज्ञा, मर्यादा और अनुशासन—इस त्रिपदी से जुड़ा हुआ साधक कभी बाहर नहीं भटक सकता। जहां कहीं स्खलना होती है, वहां-वहां खतरे की घंटी सुनाई देने लगती है।

एकता, संगठन और अनुशासन का प्रतीक मर्यादा महोत्सव तेरापंथ धर्मसंघ का अलौकिक पर्व है। इसकी विधिवत शुरुआत वि.सं. 1911, माघ शुक्ला सप्तमी बालोतरा से हुई। तेरापंथ के चतुर्थ संघप्रमुख आचार्यश्री जीतमलजी (जयाचार्य) ने अपनी सूझ-बूझ के साथ मर्यादा निर्माण के उपलक्ष्य में इसे मनाया। शनैः-शनैः महोत्सव को सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसका मूल्यांकन करते हुए त्रिदिवसीय महोत्सव को वसंत पंचमी से सप्तमी तक—विशेष रूप से महत्त्व दिया।

सामूहिक शक्ति का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। एकता में जो बल है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वह संघ कभी पराजित नहीं हो सकता, जहां एकता है। संगठन के अभाव में परिवार, समाज, देश में बिखराव की स्थिति पैदा हो जाती है। वर्तमान समय में तो यह बिखराव और ज्यादा होता जा रहा है। सामाजिक व्यवस्थाएं छिन्न-भिन्न हो रही हैं और धार्मिक संगठनों में भी अनुशासन की उपेक्षा हो रही है। ऐसी परिस्थितियों में **तेरापंथ धर्मसंघ** की एकसूत्रता अक्षुण्ण है। इसका मुख्य कारण है—आचार्यश्री भिक्षु की सूझ-बूझ, जिन्होंने मर्यादामय तथा अनुशासनमय जीवन-शैली दी। संघ में एक नेतृत्व की सुंदर परंपरा का सूत्रपात कर संघ व संघपति के संबंध को और अधिक प्रगाढ़ बना दिया। एक आचार्य, एक समाचारी तथा तत्त्व-निरूपण की एक शैली—इस त्रिपदी ने संघ के व्यवस्था पक्ष को इतना सुदृढ़ बना दिया कि व्यवस्था करने वाला निश्चिंत रहता है। आज्ञा, मर्यादा और अनुशासन—इस त्रिपदी से जुड़ा हुआ साधक कभी बाहर नहीं भटक सकता। जहां कहीं स्खलना होती है, वहां-वहां खतरे की घंटी सुनाई देने लगती है।

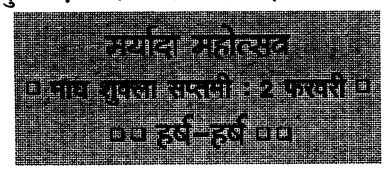

अनुशासन एवं मर्यादा की दृष्टि से तेरापंथ सर्वत्र उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। एक आचार्य का नेतृत्व, अनुशासन एवं

मर्यादाओं के प्रति यहां पूरा सम्मान है। यहां किसी की अनुशासनहीनता चल नहीं सकती। इस मामले में तेरापंथ के श्रावकगण भी अपने धर्मसंघ का अनुशासन और मर्यादा को समझते हैं। एक बार एक साधु कहीं से विहार करता हुआ अकेला जा रहा था। बीच में तेरापंथ श्रावक मिला। श्रावक ने पूछा—मुनिजी, आप किस पंथ में हो? मुनि ने कहा—मैं संत भीखणजी के टोले का हूं। श्रावक दृढ़ता के साथ बोला—मुनिजी, यह हो नहीं सकता। क्योंकि तेरापंथी साधु कभी एकल विहारी नहीं होता। मैं तेरापंथ की मर्यादाओं को अच्छी तरह से जानता हूं। आप अपना सही परिचय दें। श्रावक की बात सुनकर मुनि सहम गया। उन्होंने सहजता से कहा—आप सही कह रहे हैं। मैं उस धर्म से बहिर्भूत हूं।

अनुशासन और मर्यादाविहीन संघ कभी चल नहीं सकता। अनुशासन के अभाव में पदलिप्सा, यशलिप्सा, सुविधावाद तथा शिष्यलोलुपता एवं शिथिलाचार पर अंकुश नहीं लग सकता। संघ छोटा हो या विशाल—उसका प्राणतत्त्व अनुशासन है। जिस संघ में सारणा-वारणा नहीं होती, वह संघ आगे नहीं बढ़ सकता। सारणा-वारणा विकास का एक बहुत बड़ा आधार है। आचार्यश्री तुलसी ने पंचसूत्र में लिखा है—

सारणा-वारणा यत्र, सर्वदा समयोचिता।
सापेक्षत्वेन जायते, स संघः संघ उच्यते।।

जिस संघ में सापेक्ष रूप में समय के अनुसार उचित सारणा-वारणा होती रहती है, वही संघ सही मायने में संघ होता है। एकाकी रहने वाला साधक ज्ञान, दर्शन और चारित्र के क्षेत्र में नया कुछ विकास नहीं कर सकता। संघ से जो संबल मिलता है, जो ऊर्जा मिलती है, उससे सोया हुआ शौर्य जाग्रत हो जाता है। गुरु के वचन व आशीर्वाद शिष्य के लिए सब-कुछ होता है। प्रशासन के क्षेत्र में मुख्य रूप से दो बातें विशेष होती हैं—सारणा और वारणा। सारणा का मतलब है—प्रेरणा और प्रोत्साहित करना तथा वारणा का अर्थ है—उपालंभ देना। व्यक्ति को सही दिशा-दर्शन देकर साधक की जीवन-शैली बदलना, ताकि भविष्य में कभी गलती न करे।

आचार्यश्री भिक्षु की प्रज्ञा जाग्रत थी। वे भविष्य-द्रष्टा थे। अपने धर्मसंघ में अनुशासन को प्रभावशाली बनाने के लिए संविधान बनाया। वे साधु-समाज में छाई स्वच्छंदता, शिथिलता और अव्यवस्था का अध्ययन कर चुके थे। उनकी दृष्टि पारदर्शी थी। उन्होंने चिंतनपूर्वक अनुशासित, मर्यादित तथा सुव्यवस्थित संगठन का स्वप्न देखा। उन्होंने चिंतनपूर्वक मौलिक मर्यादाएं बनाईं, जिनकी प्रासंगिकता सदैव बनी रहेगी। ये मर्यादाएं निम्नानुसार हैं—

- सब साधु-साध्वी एक आचार्य की आज्ञा में रहें। विहार, चातुर्मास आचार्य की आज्ञा से करें।
- शिष्य-शिष्याएं न बनाएं। आचार्य भी योग्य व्यक्ति को ही दीक्षित करें। दीक्षा के बाद कोई अयोग्य निकले, तो उसे गण से अलग कर दें।
- आचार्य किसी को अपना उत्तराधिकारी चुनें, तो सब साधु-साध्वी सहर्ष स्वीकार करें।
- श्रद्धा या आचार को लेकर गण में भेद न डालें। दलबंदी न करें। आचार्य व बहुश्रुत साधु कहें—वह मान लें। अथवा केवलीगम्य कर दें।
- गण में शुद्ध साधुपन सरधे—वह गण में रहे, किंतु, छल, कपटपूर्वक गण में न रहे।

इस प्रकार की और भी मर्यादाएं हैं, जिनकी त्रैकालिक उपयोगिता के बारे में कोई प्रश्नचिह्न नहीं उभरा। मर्यादा की ये मुख्य धाराएँ हैं, इनमें परिवर्तन की अपेक्षा नहीं हुई। देश-काल और क्षेत्र की दृष्टि से जो मर्यादाएं बनाई गईं, उनके लिए आचार्यश्री भिक्षु ने लिखा कि आचार्यकृत मर्यादा आचार्य के हाथ हैं। अगर उनमें परिवर्तन की आवश्यकता महसूस हो तो संशोधन, परिवर्द्धन किया जा सकता है।

तेरापंथ धर्मसंघ चूंकि एक आचार्य के नेतृत्व की परंपरावाला धर्मसंघ है, अस्तु, संपूर्ण धर्मसंघ की गतिविधियों के सम्यक् संचालन की देख-रेख भी आचार्य के ही हाथ में होती है। आचार्यश्री भिक्षु के संविधान में साधु-साध्वियों की साधना में कोई मौलिक अंतर नहीं है। अतः साध्वी होने के कारण विकास के किसी भी अवसर से वे वंचित नहीं हैं। शिक्षा, साहित्य, कला, प्रवचन और यात्रा आदि महत्त्वपूर्ण विषयों में कोई भी ऐसा विषय नहीं है जिसमें साध्वियों का प्रवेश न हो। साधना की दृष्टि से सबको समानाधिकार हैं। साध्वी समाज की पूर्णरूपेण देखभाल हालांकि आचार्य ही करते हैं। उनकी साधना, शिक्षा, स्वास्थ्य, चित्त-समाधि आदि के बारे में सारी

शेष पृष्ठ 58 पर

तीन बालबोध कथाएं

❋

❑ दादा धर्माधिकारी ❑

—'महाराज, आप उलटी बातें न करें। आपके पेट में गले तक अन्न भरा है। तिल रखने की भी जगह नहीं है। तब इस खोवे के हकदार आप कैसे हैं और कैसे यह खोवा आपका है?' पंडितजी की आंखों में आंख डाल कर बिलाव ने कहा—'मेरे पेट में तीन दिन से भूख की आग धधक रही है। मुझे अन्न का एक कण भी नहीं मिला है। इसलिए इस खोवे पर मेरा अधिकार है।'

●

बिना परिश्रम के सुख-सुविधाओं की इफरात हो तो दिमाग में भूत नाचने लगते हैं। बिछौने पर लेटते ही शैतान सवार हो गया और मन का संदेह बोल उठा— 'कहीं यह सब भूत का खेल तो नहीं है?' कहने भर की देर थी कि एक विकराल भूत हाजिर हो गया। सुख-साधनों की भीड़ से घबराए यात्री के मुंह से निकला—'क्या मुझे खाओगे?' भूत के 'हां' कहने के साथ ही राही समाप्त और उसका सफर भी समाप्त हो गया।

●

वे बोलीं—'बस, यह है बिल्कुल वैसा, जैसा हम चाहती हैं।'
—'क्यों?'
—'यह बगैर भूख के खा सकता है और बगैर प्यास के पी सकता है।'
सह-पान और सह-भोजन का सामाजिक मूल्य मनुष्य के समाधान का उत्स है, जिससे अशना और पिपासा अपना इच्छित स्थान मान कर संतुष्ट हो गईं।

न्याय भूखे का

किसी गांव में एक ब्राह्मणदेवता रहते थे। वे बड़े भोजनप्रिय थे। भोजन का निमंत्रण स्वीकार करना उनका पेशा था।

पंडितजी के पड़ोस में एक ग्वालिन रहती थी। वह आए दिन उनको निमंत्रित किया करती थी।

एक बार श्राद्ध के दिन ब्राह्मणदेवता का न्योता हुआ। दक्षिणा मिलने वाली थी।

ब्राह्मणदेवता ने बड़ी ईमानदारी और लगन से खाया। कोई कसर नहीं रखी। आकंठ भोजन पाया। दक्षिणा लेकर पान चबाते हुए ज्यों ही रवाना होने लगे कि ग्वालिन बोली—'महाराजजी, एक खोवे का गोला आपके नाम का रह गया है। इसे भी लेते जाइए, नहीं तो मुझे पाप लगेगा।'

बालकथा

पंडितजी खोवे का गोला भला कैसे छोड़ते? उन्होंने घर ले जाकर बड़ी हिफाजत से छींके पर रख दिया।

किया हुआ भोजन कैसे पचे, यह वे अच्छी तरह जानते थे। उसके लिए कड़ी-सी माजून बना कर खा ली। हलका-सा नशा हुआ। उस नशे में बैठे ब्राह्मणदेवता सोचने लगे कि कल इस खोवे का क्या बने। लड्डू या मोदक?

इतने में कहीं से बिलाव आया और लपका उस खोवे के गोले की तरफ।

पंडितजी दहाड़े—'अरे, तू बड़ा चोर है, लुटेरा है! दिन-दहाड़े मेरे सामने से मेरा खोवा ले जाने आया है?'

नशे की करामात ऐसी कि बिलाव भी बोलने लगा।

—'महाराज, आप उलटी बातें न करें। आपके पेट में गले तक अन्न भरा है। तिल रखने की भी जगह नहीं है। तब इस खोवे

के हकदार आप कैसे हैं और कैसे यह खोवा आपका है?' पंडितजी की आंखों में आंख डाल कर बिलाव ने कहा—'मेरे पेट में तीन दिन से भूख की आग धधक रही है। मुझे अन्न का एक कण भी नहीं मिला है। इसलिए इस खोवे पर मेरा अधिकार है।'

पंडितजी में हिम्मत नहीं कि डंडा मार कर बिलाव को भगा दें और बिलाव में साहस नहीं कि खोवे का गोला छीन ले जाए। इसलिए क्रिया-प्रतिक्रिया की चर्चा का दौर शुरू हो गया।

ब्राह्मणदेवता बोले—'कमबख्त, तू मुझे ज्ञान सिखाने लगा! तू नास्तिक है। धर्म के खिलाफ बात करता है, नीति और कानून के खिलाफ बात करता है।'

बिलाव दृढ़ता से बोला—'ब्राह्मणदेवता! जो धर्म, जो नीति, जो कानून अन्न पर भूखों का अधिकार बतलाने के बदले, जिसका पेट ठसा-ठस भरा हो, उसका अधिकार बतलाता है—वह धर्म ही धर्म नहीं है, वह नीति भी नीति नहीं है, वह कानून भी कानून नहीं है।'

—'बच्चू, तुम सीधी तरह नहीं मानोगे, ठहरो।'—पंडितजी झल्ला कर बोले—'मैं तुम पर अदालत में नालिश करूंगा। संविधान ने मुझे कुछ मूलभूत अधिकार दिए हैं। उनका आधार लेकर मैं सर्वोच्च न्यायालय तक तुम्हें घसीट ले जाऊंगा।'

बिलाव गंभीरता से बोला—'मुझे मंजूर है। आप जरूर मुकदमा चलाइए। लेकिन.....'

'लेकिन क्या?'—पंडितजी पूछ बैठे।

—'गुजारिश है कि आप मेरी दो शर्तें सुन लें'—बिलाव ने कहा।

—'पहली शर्त यह है कि नालिश दायर करने से पहले आप खुद सात दिन का उपवास कीजिए। उन सात दिनों में अगर आपने पड़ोस की ग्वालिन के यहां से दूध चुरा कर नहीं पीया तो मुझे आपकी फरियाद कबूल है।'

—'दूसरी शर्त यह है कि जिस हाकिम के इजलास में मेरा मामला चले, वह भी सात दिन का उपवास करे। उन सात दिनों में अगर उसने अपनी मेमसाहब की आलमारी में से बिस्किट चुरा कर नहीं खाए तो उस अदालत का फैसला भी मुझे मंजूर है।'

पंडितजी के मुंह में ताला पड़ गया। काटो तो खून नहीं। वे पोथी-पत्रों में आज तक बिलाव के प्रश्नों का जवाब ही खोज रहे हैं।

और भूखे बिलाव को रह-रह कर याद आ जाती है खोवे के गोले की। उसकी समझ में यह नहीं आता कि यह कौन-सा न्याय है, जहां एक खूब भरपेट खाकर और संग्रह करे तथा पचाने के लिए दवा खोजे और दूसरा इतना भूखा रहे कि भूख मिटाने के लिए चोरी करे?

—'भूखे भजन न होहिं गोपाला। यह लो अपनी कंठी माला।'—कहने वाले भक्त के आते ही बिलाव भाग खड़ा हुआ और पंडितजी अपने काम में लग गए। ●

कल्पवृक्ष

एक दफा एक थका राहगीर विश्राम के लिए कल्पवृक्ष की छाया में बैठ गया।

कुछ देर सुस्ताने के बाद उसके मुंह से निकला—'क्या ही अच्छा होता, यदि कोई माई का लाल पानी पिला देता!' और, चांदी की झारी में पानी हाजिर। राहगीर तृप्त हो गया।

कुछ देर बाद सोचने लगा—'अब खाना मिल जाए तो कितना मजा आ जाए!'

कल्पवृक्ष का प्रभाव कहां जाता? सोने की थाली में खाना आ गया। पेट-पूजा करने के बाद राहगीर ने कहा—'अब सोने के लिए बिछौना मिल जाए तो बहार आ जाएगी।'

तुरंत मच्छरदानी वाला बिछौना सामने आ गया।

बिना परिश्रम के सुख-सुविधाओं की इफरात हो तो दिमाग में भूत नाचने लगते हैं। बिछौने पर लेटते ही शैतान सवार हो गया और मन का संदेह बोल उठा—'कहीं यह सब भूत का खेल तो नहीं है?' कहने भर की देर थी कि एक विकराल भूत हाजिर हो गया।

सुख-साधनों की भीड़ से घबराए यात्री के मुंह से निकला—'क्या मुझे खाओगे?'

भूत के 'हां' कहने के साथ ही राही समाप्त और उसका सफर भी समाप्त हो गया। ●

अशना और पिपासा

भगवान ने सृष्टि का निर्माण किया और सारे जीव पैदा किए। उनके साथ बहुत-सी वासनाएं और इच्छाएं पैदा कीं। उनमें दो मूलभूत प्रबल वासनाएं हैं। एक का नाम अशना है और दूसरी का पिपासा—खाने की इच्छा और पीने की इच्छा। खाने की इच्छा अलग चीज है और भूख अलग चीज। पीने की इच्छा अलग चीज है और प्यास अलग चीज।

दोनों विधाता से बोलीं—'हमें रहने के लिए आश्रय दो।'

विधाता ने गाय की ओर इंगित कर कहा—'देखो, यह मेरा आश्रित जानवर है। इतना नम्र, इतना गरीब, इतना सौम्य, इतना निरुपद्रवी जानवर मैंने दूसरा नहीं बनाया। इसलिए जब पृथ्वी को भी रूप लेना होता है तो इसी का रूप लेती है। अतः तुम इसी के पास रहो।'

—'माना कि यह बहुत अच्छी है'—अशना-पिपासा एक ही साथ बोलीं—'लेकिन हमारे काम की नहीं।'

—'क्यों?'

—'इसके एक ही तरफ दांत है। यह क्या खाएगी? दूसरी बात यह है कि यह खाया हुआ दुबारा खाती है, जुगाली करती है, पागुर करती है। यह हमारे किस काम की?'

विधाता ने घोड़ा लाकर खड़ा कर दिया। जानवरों में सबसे सुंदर। उसका तुर्रा, खड़े रहने की अकड़ और शान देख कर वे दोनों खुश हो गईं। बोलीं—'गाय से अच्छा है यह। इसके दोनों तरफ दांत हैं, जुगाली भी नहीं करता, लेकिन,....'

—'कहते-कहते रुक क्यों गईं?'

—'इसलिए कि इसमें भी एक ऐब है।'

—'कौन-सा ऐब?'

—'यह भूख लगेगी तो खाएगा और प्यास लगेगी तो पीएगा। इसके आश्रित हम कैसे रह सकती हैं?'

होते-होते भगवान ने मनुष्य लाकर खड़ा कर दिया।

वे बोलीं—'बस, यह है बिल्कुल वैसा, जैसा हम चाहती हैं।'

—'क्यों?'

—'यह बगैर भूख के खा सकता है और बगैर प्यास के पी सकता है।'

सह-पान और सह-भोजन का सामाजिक मूल्य मनुष्य के समाधान का उत्स है, जिससे अशना और पिपासा अपना इच्छित स्थान मान कर संतुष्ट हो गईं। ❖

एकता, संगठन और अनुशासन का प्रतीक : मर्यादा महोत्सव पृष्ठ 55 का शेष

स्थिति का अवलोकन करना और यथोचित व्यवस्था करना आचार्य के ही अधिकार क्षेत्र में आता है। इस कार्य के संपादन में साध्वीप्रमुखा का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है।

कठिनाइयों की अनेक घाटियों को पार कर तेरापंथ आज राजमार्ग पर अग्रसर है। आचार्यश्री भिक्षु से लेकर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के नेतृत्व में तेरापंथ सुसंगठित, मर्यादित और अनुशासित रूप में सतत गतिशील है। आज धर्मसंघ को सतत गतिशील बनाए रखने के लिए आचार्यप्रवर अनवरत प्रयास करते हैं। धर्मसंघ को युगानुरूप अनुशासन की शैली में मार्गदर्शन देते रहने से ही यह धर्मसंघ आज ऊंचाइयों के शिखर को छू रहा है। इसका मुख्य कारण है तेरापंथ धर्मसंघ के पास अनुशासन की शैली है, विनय की अमूल्य परंपरा हैं। और है—आचार्यश्री भिक्षु तथा उत्तरवर्ती आचार्यों का अथक परिश्रम। ❖

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

Vijay Singla
098150-30806

STEEL CENTRE

G.T. Road, Battanlal Mill Complex
P.O. **MANDI GOVIND GARH 147301**
Distt. Fatehgarh Sahib (Punjab), India
Phone : 91-1765-251460, 256929 (O), 252860 (R)

IMPORTER OF IRON & STEEL SCRAP

जैन भारती, फरवरी, 2009
प्रेषण दिनांक 28 जनवरी, 09

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

SMT

SMT SOURCE FOR STEEL MILL PLANTS

An ISO 9001:2000 Co. and Government of India Recognized EXPORT HOUSE

TURNKEY PROJECTS FOR TOTAL STEEL MAKING

TURNKEY PROJECTS FOR IRON ORE TO SPONGE IRON AND MANGANESE ORE TO FERRO MANGANESE & SILICON

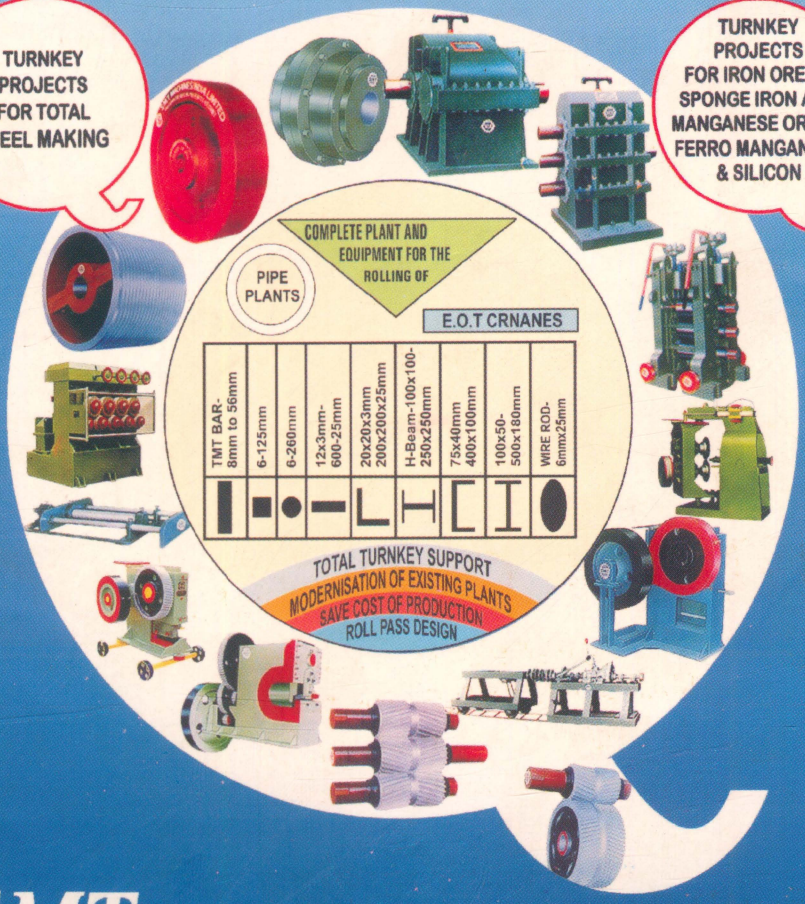

SMT MACHINES (INDIA) LIMITED

(ENGINEERS, CONSULTANTS, MANUFACTURERS, SUPPLIERS & EXPORTERS OF COMPLETE STEEL MILL PLANTS & ALLIED MACHINERY)

POST BOX NO. 71, G.T.ROAD, NEAR FOCAL POINT, MANDI GOBINDGARH - 147301 (PUNJAB) INDIA

TEL: +91-1765-256337, 257742 FAX: +91-1765-255199

E-mail : Info@smtmachinesindia.org

For Further details, please visit us at : www.smtmachinesindia.org

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।